* ॐ *

श्रीकृष्णपरमात्मने नमः

श्रीसाधुशिरोमणि ज्ञानेश्वरमहाराज कृत भावार्थ-
दीपिका–गीता व्याख्या–की हिन्दी भाषा टीका
सहित.

श्रीमद्भगवद्गीता

अध्याय दूसरा.

अनुवादक व प्रकाशक.
☞ पंडित रामचन्द्र नारायण पौराणिक.
(रामदासानुदास)

संशोधक.
त्रिपाठि शिवदत्त काव्यतीर्थ ।

...रसी गुलाबचंद संघाणी H. L.
...से जैन सुधारक प्रेस में मुद्रित
... एकादशी संवत्. १९७३ ।
मूल्य ।)

पता—कड़का चोक दक्षिणी बाड़ा अजमेर.

समर्पण

श्रीकृष्णचन्द्र! आनन्दकन्द! भक्तवत्सल! यदुनाथ! आपके उत्तमोत्तम उपदेश रूपी ज्ञान सिन्धु को मथकर महर्षि शिरोमणि श्रीवेदव्यासजीने जो महाभारत रूपी रत्नोंका निधान सम्पादन किया है, उसी में से श्रीमद्भगवद्गीतान्तर्गत द्वितीय अध्याय की श्लोकमणिमाला को श्रीअग्रवाल वंशावतंस धर्ममूर्ति सेठजी श्रीगोवर्द्धनदासजी के सुयोग्य पुत्र उदारशिरोमणि सेठ रामचन्द्रजी गुलखंडिया के कर कमलों द्वारा आपकी पवित्र सेवामें सादर समर्पित करता हूं

हरिचरणानुरागी

रामचन्द्र पौराणिक.

निवेदन

प्रियबन्धुवर्गों ! उस जगन्नियन्ता जगदीश्वर श्रीकृष्णचंद्रजी की दया दृष्टि से दूसरा अध्याय भी आप की सेवा में भेजा जाता है। आशा है कि आप प्रेमपूर्वक इस का स्वीकार करके व इस से यथा योग्य लाभ उठा कर मुझे, तीसरे अध्याय को आप की सेवा में उपस्थित करने के लिये प्रोत्साहित करेंगे।

एक बात और भी यहां कहना अत्यावश्यक है। वो यह है कि प्रथम अध्याय जिस अक्षरों में छपवाया गया उसके अक्षर अत्यंत मनोहर न होने के कारण जैसा लाभ होना चाहिये वैसा नहीं होसका, परन्तु अब की वेर यंत्राधीश महोदय ने निर्णय सागर से नवीन टाइप मँगाकर इस कार्य को पूर्ण सहायता पहुंचाई है। इस लिये मैं उन को मुक्त कंठ से धन्यवाद देता हुवा आप सज्जनों को भी यह सूचित कर देता हूं कि जो महाशय समग्र ग्रंथ लेंगे उन्हें अठारह अध्याय छपजाने पर प्रथम अध्याय को भी इसी मनोहर टाइप में छपवा कर दिया जावे ऐसा विचार किया गया है। अतः भक्त जन, गीता प्रेमी तथा वेदान्त जिज्ञासु इस मंगल कार्य में पूरी पूरी सहायता पहुंचाकर आत्मज्ञान प्राप्त करके अपने जन्म को सफल करें और अपने कर्तव्य पालन से मुझे कृतार्थ करें।

अब अंतमें मैं वदान्य शिरोमणि सेठ रामचंद्रजी गुलखंडिया को अनेकानेक धन्यवाद देता हूं कि जिन्होंने अपनी सत्य उदारता के द्वारा इस अध्याय को प्रकाशित करने में पूर्ण आर्थिक सहायता प्रदान कर मुझको ऐसे वृहत् कार्य को सुसाध्य करने में प्रोत्साहित किया है॥ जगदीश्वर ऐसे महानुभवों की सर्वदा वृद्धि करता रहे।

रा. ना. पौराणिक

॥ श्री ॥

॥ ॐ श्री कृष्ण परमात्मने नमः ॥

ॐ विश्वानिदेव सवितुर्दुरितानि परासुव । यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥

॥ अध्याय २ रा ॥

मूल—संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदंतमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

पदच्छेदः—तं । तथा । कृपया । आविष्टं । अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् । विषीदन्तं । इदं । वाक्यं । उवाच । मधुसूदनः ॥ १ ॥

अन्वयः—तथा कृपया आविष्टम् अश्रुपूर्णाकुलेक्षणं विषिदन्तं तं (पार्थं) मधुसूदनः इदं वाक्यं उवाच ॥ १ ॥

अर्थः—संजयने कहा कि इसप्रकार करुणा से व्याप्त तथा आँखों में आँसू भरेहुए तथा शोकाकुल अर्जुन को श्रीकृष्णजीने ऐसा कहा ॥ १ ॥

टीका—(संजय उवाच) फिर संजयने धृतराष्ट्र से कहा कि हे राजन् ! (तं तथा) उस समय अर्जुन शोकग्रस्त होकर रोने लगा । ये सब अपने ही गोत्र वर्ग हैं (अश्रुपूर्ण कुलेक्षणम्) ऐसा देखकर उस के मन में एक विलक्षण स्नेह उत्पन्न हुआ और उससे उसका चित्त अत्यंत करुणामय होगया । जैसे लवण के बड़े बड़े कंकर पानी में सहज ही गल जाते हैं अथवा वायु से जैसे घने बादल भी बिखर जाते हैं

वैसे अर्जुन का चित्त धैर्ययुक्त होने पर भी स्नेह से द्रवीभूत होगया। कीचड़ में फँसा हुआ राजहंस जिसप्रकार अधिक दुःखाकुल व म्लान दीखने लगता है उसीप्रकार स्नेह से भराहुआ वो अर्जुन भी (विषीदंतमित्यर्थं) अत्यंत निस्तेज व शोकाकुल दीखने लगा। हे राजन्! अर्जुन को जब श्रीकृष्णजीने इसप्रकार तीव्र मोह से ग्रस्त देखा तब उन्हों ने उसको उपदेश देना प्रारंभ किया॥१॥

मूल—श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वाकश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

पदच्छेदः—कुतः। त्वा। कश्मलं। इदं। विषमे। समुपस्थितं। अनार्यजुष्टं। अस्वर्ग्यं। अकीर्ति करं। अर्जुन ॥ २ ॥

अन्वयः—हे अर्जुन! अनार्यजुष्टं अस्वर्ग्यं अकीर्तिकरं इदं कश्मलं विषमे कुतः त्वा समुपस्थितम् ॥ २ ॥

अर्थः—श्रीकृष्णजीने कहा हे अर्जुन! अयोग्य पुरुषों के करने योग्य, स्वर्ग प्राप्ति में बाधा पहुंचाने वाला तथा इस लोक में अपकीर्ति करने वाला ऐसा मोह इस युद्ध प्रसंग में तुमको कहां से उत्पन्न हुवा? ॥२॥

टीका—(श्रीभगवानुवाच--कुतस्त्वा) उन्होंने कहा कि हे अर्जुन! यहां इस रणभूमि में इस प्रकार का आचरण करना क्या तुम्हारे लिये योग्य है? तुम कौन हो? और क्या कर रहे हो? इस बात का पहले विचार तो करो। तुम्हें क्या हुवा है? कहो तो सही। क्या किसी बातकी कमी है? अब किस कारण से अटके बैठे हो? क्यों खेद करते हो? हे पार्थ! अयोग्य विचार मन में लाकर धीरज

को मत छोड़ो। हे धनंजय! तुम ऐसे शूर हो कि तुम्हारा नाम सु-नते ही पराजय तो देशांतर में भाग जाता है। तुम शूरवृत्ति के भां-डार व क्षत्रियों के राजा हो। तीन्हों लोको में तुम्हारे पराक्रम का डंका बज रहा है। संग्राम में तो तुमने शिवजी को भी जीत लिया है। निवातकवच राक्षस का नाम शेष कर दिया है। और गंधर्वों-को अपने गुणगान करने में लगाया है। हे अर्जुन! तुम्हारे परा-क्रम के सामने त्रैलोक्य भी कम कीमत का है। जिसका इतना ब-ड़ा पराक्रम है ऐसे तुम आज यहां वीरवृत्ति को छोड़ कर (कश्मल-मिदं) नीचे मुख-करके उदास बैठे हो। और तुम ऐसे धैर्यशाली होकर भी थोड़ से ही कारुण्य से इतने दीन बन गये हो। इसका कुछ तो विचार करो। क्या कभी अंधेरा भी सूर्य को ग्रसित कर सकता है? अथवा मेघों को देख कर क्या कभी वायु भी ड़र जाता है? या अमृत भी कभी मृत्यु से मारा जासकता है? तुम्हारा इस प्रकार का आचरण तो लकड़ी द्वारा अग्नि का निगल जाने के समान ही हुआ। अथवा क्या कभी लवण भी पानी को गला देगा? किंवा स्पर्श मात्र से ही क्या कभी काल कूट विष मर जावेगा? या मेंड़क भी कभी बड़े भारी भुजंग को निगल जावेगा? इस बात का कुछ उत्तर तो दो। लोमड़ी का कभी सिंह के साथ युद्ध होता हुआ देखा वा सुना है? परन्तु आज तो तुम यहां पर उसी बात को सत्य करके दि-खाते हो। (विषमे समुपस्थितम्) इस कारण हे अर्जुन! अभी जो कुछ तुम कर रहे हो सो सर्वथा अयोग्य है इस बात को तुम भलभाँति समज जावो। इस रणभूमि पर तुम को किस का स्नेह है? हे पार्थ! मन को धीरज देकर इस मूर्खता को छोड़ दो। और शीघ्रही हाथ में धनुष लेकर उठ खड़े होजावो।

इस समरभूमिपर खड़े होने के अनंतर किसके ऊपर दया करनी चाहिये ।(अनार्यजुष्टं) तुम इतने ज्ञानी होकर भी इस बातका विचार नहीं करते हो । हे धनंजय ! तुम ही कहो कि युद्ध के समय मन में दया उत्पन्न होनें से क्या लाभ होगा? (अस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन) श्रीकृष्णजी कहते हैं हे अर्जुन ! तुम्हारा इस प्रकार का आचरण तो आज तक संपादन किये हुवे कीर्ति को कलंक लगाने वाला और परलोक प्राप्ति में वाधा पहुंचाने वाला है ॥ २ ॥

मूल — क्लैब्यं मास्मगमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

पदच्छेदः—क्लैब्यं । मास्मगमः । पार्थ । न । एतत् । त्वयि ।उपपद्यते । क्षुद्रं । हृदयदौर्बल्यं । त्यक्त्वा । उत्तिष्ठ । परंतप ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे पार्थ ! क्लैब्यं मा गमः स्म एतत् त्वयि न उपपद्यते हे परंतप ! (इदं) क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा उत्तिष्ठ ॥३॥

अर्थः— हे पार्थ ! ऐसे कायर मत बनो । तुमको ऐसा करना योग्य नहीं है । हे परंतप! मन की क्षुद्र दुर्वलता को छोड़कर युद्ध करने को खड़े हो जावो ॥ ३ ॥

टीका—(क्लैब्यं मास्मगमः पार्थः) इस लिये हे अर्जुन! तुम दुःख मत करो । पूरा धीरज धारण करो । और शोक को छोड़ दो । (नैतत्त्वय्युपपद्यते) कारण कि ऐसा करना तुम्हारे जैसे को योग्य नहीं है । और यदि तुम मेरा कहा न मानोगे और अपनी इच्छानुसार ही आचरण करोगे तो आजतक संपादन किये हुये यश पर पानी फिरजायगा । किस वात के करने में तुम्हरा हित है इसका अब भी विचार करलो । युद्धारंभका समय जव आ पहुँचा तव फिर कु-

पा से क्या काम? ये सम्पूर्ण कौरव तुम्हारे सगे संबंधी हैं सो क्या अभी ही हुए हैं? क्या तुम पहिले इनको नहीं जानते थे ? अथवा उन से तुम्हारी जान पहचान ही नहीं थी? आजका युद्ध प्रसंग तुम्हारेलिये क्या कोई अनोखी बात है ? युद्ध करना तो तुम्हारे लिये एक सहज बात है पर इस आपस के युद्ध में तुम सब निमित्तमात्र हो। (क्षुद्रं) फिर आज ही क्या हुआ? आज ही यह स्नेह कहांसे आया? इस बात को मैं भी नहीं जानता हूं। हे अर्जुन! तुमने यह बात अच्छी नहीं की। यदि तुम इस प्रकार मोह को धारण करोगे तो आजतककी कमाई हुई कीर्ति का तो नाश होगा और तुम को इस लोक व परलोक में सौख्य भी नहीं मिलेगा। (हृदय दौर्बल्यं) अंतःकरण की ढिलाई कुछ शुभ फल की देने वाली नहीं है। (त्यक्त्वोत्तिष्ट परंतप) संग्राम में ऐसा करना तो क्षत्रियों के लिये पतन का ही मूल है। भगवान् श्रीकृष्णजी के इस उपदेश को सुनकर अर्जुन ने कहा कि।

मूल—अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ ४॥

पदच्छेदः—कथं। भीष्मं। अहं। संख्ये। द्रोणं। च। मधुसूदन। इषुभिः। प्रतियोत्स्यामि। पूजार्हौ। अरिसूदन॥ ४॥

अन्वयः—हे मधुसूदन ! अहं भीष्मं द्रोणं च संख्ये इषुभिः कथं प्रतियोत्स्यामि ? हे अरिसूदन !, तौ, पूजार्हौ॥ ४॥

अर्थः—अर्जुन ने कहा—हे मधुसूदन! मैं इन भीष्माचार्य और द्रोणाचार्य के ऊपर किस प्रकार बाण छोडूं? कारण कि हे कृष्णजी! वे तो मेरे पूजनीय हैं॥४॥

टीका– (अर्जुन उवाच–कथमिति) हे भगवन्! इतना उपदेश करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस बात का तो आप स्वयं ही अपने मनमें विचार करके देख लीजिये! यह युद्ध नहीं है किन्तु एक महादोष है। इस से न केवल पीड़ा ही होगी किन्तु इस युद्ध में तो हम को गुरुजनों का वध भी करना पड़ेगा। हे प्रभो! (पूजार्हावरिसूदन) माता पिता आदि की पूजा करना और अपने से बनै उतना उनको संतोष देना सो यहां ऐसी उत्तम बात को त्याग करके किस प्रकार उन का बध करें? हे देव! सन्तजनों को नमस्कार करना, किंवा बनै तो उनकी पूजा करना, इस बात को छोड़ कर अपने ही मुख से उन की निंदा कैसे करें? उसीप्रकार ये भी हमारे कुलगुरु हैं। इन की तो हम नित्य पूजा किया करें यही हमारा कर्तव्य है। (इषुभिः प्रतियोत्स्यामि) इन भीष्म और द्रोणाचार्य से कियेहुये उपकारों का तो मुझ को वारंवार स्मरण आता रहता है। हे स्वामी! जिन से हम स्वप्ने में भी वैर नहीं कर सकते प्रत्यक्ष उन्ही के घात करने में कैसे प्रवृत्त होवें? इस से तो यह मेरी आयु आज ही समाप्त हो जाय तो अच्छा है। जो शरीर सुख का साधन है उस से उन का बध करके फिर प्रतिष्ठा पाने में क्या कोई पुरुषार्थ की बात है? मैं (अर्जुन) द्रोणाचार्य का शिष्य हूं, और उन्होंने ही मुझ को धनुर्वेद पढ़ाया है। हे कृष्णजी! अब आप ही कहो क्या मैं उनका बध करके उन्हीं से किये हुये उपकारों से मुक्त होऊं? हे शार्ङ्गपाणे! जिन की कृपा से वरप्रसाद प्राप्त होवे उन्हीं के साथ युद्ध करूं तो क्या आप मुझ से भस्मासुर जैसा काम कराना चाहते हैं।

मूल—गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीहलोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुंजीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्॥ ५॥

पदच्छेदः—गुरुन्! अहत्वा। हि। महानुभावान्। श्रेयः,। भोक्तुं। भैक्ष्यं अपि। इह। लोके। हत्वा। अर्थकामान्। तु। गुरुन्। इह। एव। भुंजीय। भोगान्। रुधिरप्रदिग्धान्॥ ५॥

अन्वयः——महानुभावन् गुरून् हि अहत्वा इहलोके भैक्ष्यं भोक्तुम् अपि श्रेयः (अस्ति) अर्थकामान् गुरुन् हत्वा तु इह एव '(न तु स्वर्गे) रुधिर प्रदिग्धान् भोगान् भुंजीय॥ ५॥

अर्थः—भीष्म द्रोणादि जैसें महानुभाव गुरुओं को न मार कर केवल भिक्षा से ही अपना निर्वाह करना मैं अधिक अच्छा समझता हूं। यदि ऐसा न करें तो क्या स्वार्थ में परायण गुरुजनों को मार कर उनके रुधिर से भरे हुऐ भोगों को इस लोक में भोगें? ॥ ५॥

टीका—(गुरुनहत्वा महानुभावान्) हे देव! समुद्र गंभीर है परन्तु वह भी ऊपर ऊपर से है। परन्तु द्रोणाचार्य की ओर देखें तो उनके मन में क्रोध का लेश भी नहीं हैं। गगन अपार है तो भी उस की सीमा ढूंढ़ी जा सकती है, परन्तु द्रोणाचार्य का हृदय इतना गहरा है कि जिसका पार भी नहीं पाया जाता। समय पाकर अमृत भी बिगड़ जाय, वज्र भी टूट जाय, परन्तु द्रोणाचार्य के कितने ही अपराध किये जाँय तो भी उनका मन मलिन नहीं होवेगा। माता के प्रेम के सामनें दूसरों का प्रेम तुच्छ है, परन्तु द्रोणाचार्य की कृपा तो प्रत्यक्ष प्रेम की मूर्ति ही है। हे भगवन्! यह मेरे गुरु द्रोणाचार्य तो दया का उत्पत्ति स्थान, सर्व गुणों का भंड़ार व धनुर्विद्या का अपरंपार महासागर है। और जब हमारे पर इनकी अत्यंत कृपा है, तो भला कैसे ऐसे सर्व श्रेष्ठ आचार्य का वध करें। हे प्रभो! ऐसी बात भी हमारे मन में किस प्रकार आ सकती है, (श्रेयो भोक्तुम्) हे कृष्णजी! ऐसे ऐसे महा पुरुषों

का वध करके फिर राजसुख के भोगों को भोगना इन बातों में से एक भी बात मुझे पसंद नहीं है। जो महा पुरुष मन से अत्यंत श्रेष्ठ है उन से भी यदि राजभोग श्रेष्ठ होवें तो होने दो. (भैक्ष्यम पीहलोके) इस से तो मैं भिक्षा मांगकर अपना निर्वाह करना अच्छा समझता हूं। और यदि मुझ से यह बात नहीं बनेगी तो देश त्याग कर के चला जाऊंगा अथवा किसी पर्वत की गुफा में जाकर निवास करूंगा। इन्ही को मैं उत्तम समझता हूं। परन्तु अब मैं इनके ऊपर शस्त्र चलाने जैसा नीच कर्म कदापि नहीं करूंगा। (हत्वार्थ कांमांस्तु गुरून्) हे देव ! तीक्ष्ण बाणों को इनके मर्म स्थानों में मारकर व उनके रुधिर में भीगे हुए (भोगान् रुधिर प्रदिग्धान्) भोगों को भोग कर मुझे क्या करना है ? (इहैव भुञ्जीय) रुधिर से लिप्त हुए भोंगों का किस प्रकार सेवन करें ? मैं तो ऐसी बातों को कदापि अच्छी नहीं समझता हूं। हे श्रीकृष्णजी ? आप मेरे भाषण को सुनतो रहे हो (अर्जुन का इस प्रकार का भाषण श्रीकृष्णजी को मान्य नहीं हुआ ऐसा देखकर अर्जुन के मन में भय उत्पन्न हुआ और वह कहने लगा) हे प्रभो ? आप मेरे भाषण की ओर क्यों नहीं ध्यान देते हो ॥ ५ ॥

मूल—न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्त्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

पदच्छेदः—न। च। एतत्। विद्मः। कतरत्। नः। गरीयः। यद्वा। जयेम। यदिवा। नः। जयेयुः यान्। एव। हत्वा। न। जिजीविषामः। ते। अवस्थिताः। प्रमुखे। धार्त्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

अन्वयः—नःकतरत् गरीयः इति एतत् न च विद्मः यद्वा (वयं तान्) जयेम यदि वा (ते) नो जयेयुः (इति एतदपि न विद्मः) तान् हत्वा न जिजीविषाम एव ते धार्त्तराष्ट्राः प्रमुखे अव स्थिताः ॥ ६ ॥

अर्थः—क्या हमारे लिये अधिक हितकारी है, हम इनको जीत लेंगे यो ये हमको जीत लेगें यह भी मुझ को नहीं सूझता है। जिन कौरवों को मारकर हम जीने की भी इच्छा नहीं करते, वे समस्त कौरव—युद्ध के निमित्त सिद्ध होकर मेरे सन्मुख खड़े हैं ॥ ६ ॥

टीका—(कतरन्नो गरीयः) हे भगवन् ! जो बात मेरे मन में आई थी सो ही मैंने निष्कपट होकर आप से निवेदन करदी । परन्तु अब इस के आगे सत्य क्या है? उसे आप ही जानते हो । (यानेव हत्वा नजिजी विषामः) जिन के साथ वैर का नाम लेते ही हम को प्राण त्याग करना चाहिये, वे आज युद्ध के निमित्त सिद्ध होकर सन्मुख आकर खड़े हैं (यद्वा जयेम) तो अब ऐसे मनुष्यों को मारें (यदि वा नो जयेयुः) या यहां से चले जावें? इन दो बातों में से (न चैतद्विद्मः) कौनसी बात करना उत्तम होगा यह हमें नहीं सूझता ॥ ६ ॥

मूल—कार्पण्य दोषो पहत स्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढ चेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

पदच्छेदः— कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः । पृच्छामि । त्वां । धर्मसंमूढचेताः । यत् । श्रेयः । स्यात् । निश्चितं । ब्रूहि । तत् । मे। शिष्यः ते । अहं । शाधि । मां । त्वां । प्रपन्नं ॥ ७ ॥

अन्वयः—कार्पण्यदोषापहतस्वभावः धर्मसंमूढचेताः अहं त्वां पृच्छामि। यत् निश्चितं श्रेयः स्यात् तन्मे ब्रूहि। अहं ते शिष्यः (अस्मि) त्वां प्रपन्नं मां शाधि ॥ ७ ॥

अर्थः— अज्ञानमय मेरा अंतःकरण दोषों से दूषित होगया है। और मेरा क्या कर्तव्य है यह भी मुझे नहीं सूझता। इस कारण मैं आप से पूंछता हूं सो हे प्रभो! जिसमें मेरा निश्चल कल्याण हो ऐसी ही बात आप मुझे बताइये ॥ ७ ॥

टीका-(कार्पण्य दोषोपहत स्वभावः) हमको क्या करना उचित है इस बात का यदि विचार करें तो हमें कुछ भी नहीं सूझता। कारण कि मेरा चित्त इस मोह से अत्यंत व्याकुल हो गया है। चारों ओर अंधेरा छा जाने से जब नेत्रों का तेज कुछ काम नहीं देता तब अपने पास पड़ी हुई वस्तु भी नहीं दीखती। हे प्रभो! मेरी दशाभी (धर्म संमूढ चेताः) वैसी ही हो गई है। कारण कि मेरा मन संशय से ग्रस्त हो गया है अतः सच्चा कल्याण किसमें है इस को भी मैं नहीं जान सक्ता हूं। [पृच्छामि त्वां] सो हे श्रीकृष्ण भगवन्! आप हीं इस बात का बिचार करके सत्य क्या है सो मुझे कहिये। हमारे मित्र, सगे, संबन्धी जो कुछ हैं सो आप ही हो। (शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्) हमारे गुरु, बंधु और पिता भी आप ही हो। इतना ही नहीं किंतु हमारा प्रिय दैवत भी आप ही हो और हमको आपात्तियों से वारंवार मुक्त करने वाले भी आप ही हो। जिसप्रकार गुरु शिष्य का त्याग नहीं करता, या जैसे समुद्र नादियों को नहीं छोड़ता अथवा हे भगवन्! माता से त्याग किया बालक जैसे अपना जीवित नहीं रख सकता उसीप्र-

कार आप भी हमारे सर्वस्व हो। और इसी कारण आपके बिना हमारा जीवित भी नहीं रह सकता है। हे नाथ! इतने पर भी यदि मुझ से पूर्व कथन किया हुवा विचार आप को संमत नहीं है (यच्छ्रेयःस्यान्निश्चितंब्रूहितन्मे) तो उचित और धर्मानुकूल करने योग्य जो हो सो आप ही इस समय मुझ को कहिये ॥ ७ ॥

मूल—न हि प्रपश्यामि ममापनुद्यात्

यच्छोकमुच्छोषणमिंद्रियाणाम्।

अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं

राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

पदच्छेदः—नहि। प्रपश्यामि। मम। अपनुद्यात्। यत्। शोकं। उच्छोषणं। इन्द्रियाणां। अवाप्य। भूमौ। असपत्नम्। ऋद्धं राज्यं। सुराणां। अपि। च। आधिपत्यं ॥ ८ ॥

अन्वयः—भूमौ असपत्नं ऋद्धं राज्यं अपि अवाप्य सुराणां आधिपत्यम् (अवाप्य) हि यत् मम इंद्रियाणां उच्छोषणं शोकं अपनुद्यात् तत् न प्रपश्यामि ॥ ८ ॥

अर्थः—यद्यपि मुझ को पृथ्वी का निष्कंटक व समृद्ध राज्य अथवा इंद्र पद भी मिल जावे तो भी मेरी इन्द्रियों को शुष्क करने वाला यह शोक किन उपायों से दूर होगा यह मुझे नहीं सूझता ॥ ८ ॥

टीकाः—(नहीत्यर्थं) समस्त आप्तवर्ग को देखकर मेरे मन में जो शोक उत्पन्न हुवा है, वह आपके उपदेश बिना और दूसरे किन्हीं भी उपायों से दूर नहीं होगा. (अवाप्येत्यर्थं) मुझको यदि

यहां (पृथ्वी) सार्वभौमत्व अथवा (स्वर्ग में) इन्द्र पद भी प्राप्त होजावे तो भी मेरे मनका मोह अब दूर नहीं होगा. भुने हुए वीजको भूमी में बोया जावे और उसको चाहे जितना पानी भी पिलाया जावे तोभी जिसप्रकार वो नहीं उगता अथवा जहां आयु ही समाप्त होगई है वहां जिसप्रकार केवल अमृत के अतिरिक्त महा सिद्ध औषधि भी निष्फल होजाती है उसी प्रकार कितने भी राज्य भोग मिल जाँय तो भी मेरी बुद्धि को उत्तेजना नहीं आवेगी. हे करुणाकर ! ऐसे समय में तो आपकी कृपा ही सहाय कर सकती है ।" इस समय अर्जुन की भ्रांति थोडी कम हो गई थी इस कारण उसने श्रीकृष्णजी से ऐसा कहा परन्तु थोडी ही देर के उपरान्त फिर माया की एक झपट आई और उससे वो ग्रस्त होगया. (ज्ञानेश्वर कहते हैं) मेरे मनसे तो वो भ्रांतिकी झपट नहीं थी किन्तु इस का कोई दूसरा ही कारण होगा ऐसा प्रतीत होता है । वो कौनसा कारण था ऐसा यदि पूंछो तो वो यह है कि महा मोह रूपी भुजंग ने अर्जुन को ग्रस्त कर लिया और अनुकूल समय देख कर उसने अर्जुन के मर्म स्थान (कलेजे) को डस लिया था और इसी कारण उस को चमक के ऊपर चमक आ रही थी । तब ऐसे भयंकर समय को देख कर केवल जिस की दृष्टि से ही सारा विष नष्ट हो जाता है ऐसा श्रीहरिरूपी मांत्रिक दौड़ कर वहां आया । और व्याकुल हुए अर्जुन के सान्निध्य में स्थित होकर उस ने अपने कृपाकटाक्ष द्वारा सहज ही में उस का रक्षण किया । हे सज्जनो ! इसी कारण अर्जुन को मोह रूपी भुजंग ने डस लिया था ऐसा मैंने कहा । सूर्य जैसा बादलों से आच्छादित हो जाता है वैसा अ-

र्जुन भी भ्रांति से ग्रस्त हो गया था। और ग्रीष्मऋतु में किसी बड़े भारी पर्वत में आग लगने के समान वो अर्जुन दुःख से अत्यंत जर्जर भी हो गया था। इस कारण स्वभाव से ही जो उत्तम श्याम वर्ण व कृपा मृत से भरे हुए ऐसे श्रीगोपाल रूपी मेघ उसके ऊपर वर्षा करने लगे। जिस श्रीकृष्णरूपी मेघ में दंत प्रभा यही चमकने वाली बिजली, और गंभीर वाणी यही मेघगर्जना का विस्तार है ऐसा उदार मेघ अब इस प्रकार वृष्टि करेगा कि जिससे अर्जुनरूपी पर्वत सर्वथा शांत होकर उस के ऊपर ज्ञानरूपी नयी वनस्पति उगेगी. निवृत्तिदास ज्ञानदेव कहते हैं कि मनका समाधान होजावे इस कारण दत्त चित्त होकर उस कथाको श्रवण कीजिये" ॥ ८ ॥

मूल—संजय उवाय

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः
म योत्स्य इति गोविंदमुक्त्वा तूष्णीं बभूवह ॥ ९ ॥

पदच्छेदः—एवं। उक्त्वा। हृषीकेशं। गुडाकेशः। परंतप। न। योत्स्ये। इति। गोविन्दं। उक्त्वा। तूष्णीं। बभूव। ह ॥ ९ ॥

अन्वयः—परंतपः गुडाकेशः हृषीकेशं एवम् उक्त्वा, न योत्स्ये इति गोविन्दं उक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

अर्थः—संजय ने कहा कि शत्रु तापन अर्जुन ने श्रीकृष्णजी को इस प्रकार कह कर 'मैं' अब युद्ध नहीं करूंगा। ऐसे बोल कर वह चुपचाप हो गया ॥ ९ ॥

टीका—(संजय उवाच-एवमिति) ऐसे कहते कहते ही संजय बोला कि हे राजन्! वह अर्जुन शोकाकुल होकर श्रीकृष्णजी से कहने लगा कि हे प्रभो! आप मुझे युद्ध करने का आग्रह न करें।

कारण कि (न योत्स्य इति) मैं तो कदापि युद्ध नहीं करूंगा ऐसा मैंने निश्चय कर लिया है। इतना भाषण करके अर्जुन चुपचाप हो गया तब उसको देखकर श्रीकृष्णजी को बड़ा ही अचंबा हुवा ॥ ९ ॥

मूल—तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदंतमिदं वचः ॥ १० ॥

पदच्छेदः—तं। उवाच। हृषीकेशः। प्रहसन्। इव। भारत। सेनयोः। उभयोः। मध्ये। विषीदन्तं। इदं। वचः॥ १० ॥

अन्वयः—हे भारत! उभयो: सेनयोः मध्ये विषीदन्तं (पार्थं) हृषीकेशः प्रहसन्निव इदं वचः उवाच ॥ १० ॥

अर्थः—हे राजन्! दोनों सेना के बीच में खड़े हुए अर्जुन को उद्विग्न हुआ देखकर श्री कृष्णजी ने हंसकर कहा ॥ १० ॥

टीका—और (हृषी केशः) वे अपने मनमें कहने लगे कि आज यह अर्जुन क्या कर रहा है? इस समय इसको समझाते हैं तो भी यह नहीं मानता है। इसका क्या करें? और इसको किस प्रकार समझावें? कौन से उपाय से यह धीरज धारण करेगा? ग्रहपीडा के विषय में जैसे ज्योतिषी विचार करता है अथवा असाध्य रोग को देख कर वैद्य जैसे निदान के साथ अमृततुल्य दिव्योषधी की योजना करता है वैसे अर्जुन की भ्रांति दूर होने के लिये (सेनयो रिती) उन दोनों सेनाओं के बीचमें श्रीकृष्ण भगवान विचार करने लगे। थोडे ही समयमें जब उन्होंने विचार कर लिया तब वे बडे क्रोध के साथ कहने लगे। जिस प्रकार माता के क्रोध में प्रेम गुप्त रहता है अथवा औषधिके कड़वेपन में अमृत गुप्त रहकर जैसे आरोग्यता के रूप से प्रगट होता है वैसे (तमुवाच

दीखने में तो क्रोध से भरे हुए परन्तु भीतर से अत्यंत प्रेम युक्त ऐसे श्रीकृष्णजी ने हित कारक शब्दों द्वारा अर्जुन को उपदेश देना प्रारंभ किया ॥ १० ॥

मूल—श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पंडिताः ॥ ११ ॥

पदच्छेदः—अशोच्यान् । अन्वशोचः । त्वं । प्रज्ञावादान् । च । भाषसे । गतासून् । अगतासून् । च । न । अनुशोचन्ति । पंडिताः॥ ११॥

अन्वयः—त्वं अशोच्यान् अन्वशोचः च प्रज्ञावादान् भाषसे; पंडिताः गतासून् च अगतासून् न अनुशोचन्ति ॥ ११ ॥

अर्थः—श्रीकृष्णजी ने कहा—कि जिसके लिये शोक करना योग्य नहीं है उसके लिये तुम शोक करते हो और मेरे को ही ज्ञान की बातें सुनाते हो । ज्ञानी लोग तो मरे हुए या जीते मनुष्यों के विषय में कभी भी शोक नहीं करते ॥ ११ ॥

टीका—(श्री भगवानुवाच) (उन्होंने कहा कि) हे अर्जुन ! आज तुम जो कुछ कर रहे हो उसको देखकर तो मुझे बड़ा ही आश्चर्य प्रतीत होता है । (त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे) तुम ज्ञानी तो कहाते हो परन्तु अज्ञानता को नहीं छोड़ते हो और तुमको यदि कुछ पढ़ावें तो उलटे हमको ही नाना प्रकार की नीति सिखाते हो । जन्मान्ध मनुष्य जब उन्मत्त होजाता है तब वो जिस प्रकार मन मानी ओर भटकता फिरता है उसीप्रकार तुम्हारी चतुराई दिखाई देती है । तुम कौन हो ? यह तुम्हारा भेद तुम ही को मालूम नहीं और

(अशोच्यानन्वशोचः) कौरवों के लिये शोक करते हो। इस बातको देखकर मुझे वारंवार विस्मय होता है। (प्रहसन्निव भारत इति १० मरलोकस्थं) हे अर्जुन ! तुम ही कहो कि यह त्रैलोक्य क्या तुम्हारे ही आश्रय से चला है ? या विश्व रचना अनादि काल से चली आ रही है ऐसा मानने वाले मूर्ख हैं ? इस जगत् में कोई एक सर्व-शक्तिमान् ईश्वर है और उसीसे ही समस्त प्राणी मात्र उत्पन्न होते हैं ऐसा भी लोग कहते हैं, क्या यह उनका कहना भी मिथ्या है ? यदि मिथ्या ही है ऐसा तुम कहोगे तो फिर ऐसा भी कहना पड़ेगा कि तुम से ही जन्म मृत्यु उत्पन्न किये गये हैं। और तुम्हारी इच्छा के ऊपर ही उनका नाश होना निर्भर है। यद्यपि तुम अभिमान से अभिष्ट होने के कारण इन कौरवों का वध करना नहीं चाहोगे तो क्या ये सर्व अब चिरंजीव ही रहेंगे ? अथवा तुम ही एक मारने वाले हो और बाकी सारे मरने वाले हैं इस प्रकार की तो तुमको भ्रांति नहीं हुई है ? हे मेरे प्रिय अर्जुन ! यह सर्व अनादि सिद्ध है। यह तो सृष्टि नियमानुसार उत्पन्न होता है। और फिर उसी नियमानुसार उसका नाश भी हो जाता है। तो फिर तुम उसके लिये क्यों शोक करते हो ? इस बात का मुझे उत्तर दो। अरे अर्जुन ! तुम तो अज्ञानता से इन बातों को नहीं जानते हो। और जिस बात का विचार नहीं करना चाहिये उस बात का तुम विचार करते रहते हो। और ऐसी स्थिति में यदि तुमको कुछ कहें तो उलटी हमें ही नीति सिखाते हो (गतासूनित्यर्धं) यह बड़ा ही आश्चर्य है। हे अर्जुन ! जो विचार शील पुरुष हैं वे जन्म लेना और मरना इन दोनों बातों को भ्रांतियम ही मानते हैं और इसी कारण वे जन्म मृत्यु के लिये कभी भी चिन्ता नहीं करते हैं ॥११॥

मूल—न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

पदच्छेदः—न । तु । एव । अहं । जातु । न । आसं । न । त्वं । न । इमे । जनाधिपाः । न । च । एव । न । भविष्यामः । सर्वे । वयं । अतः । परं ॥ १२ ॥

अन्वयः—अहं जातु न आसं इति न, त्वं (नासीः इति) न (किंतु आसीः एव) इमे जनाधिपाः (न आसन् इति) न (किंतु आसन् एव) अतः परं सर्वे वयं न भविष्यामः इति न ॥ १२ ॥

अर्थः—क्या मैं पहले कभी नहीं था ? किंवा तुम कभी नहीं थे? या ये राजेलोग भी नहीं थे? अथवा अपन सब लोग आगे कभी नहीं रहेंगे ऐसा नहीं है । किंतु हम तुम और ये सब सदैव रहने वाले ही हैं ॥ १२ ॥

टीका—(न त्वेवाहमिति) हे अर्जुन ! और भी सुनो । तुम, हम और सब राजा लोग जो यहां इकट्ठे हुए हैं वे सब (न चेत्यर्थं) जैसे हैं वैसे ही बने रहेंगे ? अथवा उन सबों का नाश होगा ? इस बात का विचार भी भ्रांति मय ही है । यदि यह भ्रांति दूर हो जावे या इसको छोड़ दिया जाय तो जन्म और मृत्यु का भास भी नष्ट हो जाता है । जो कुछ उत्पन्न होता है और नाश को प्राप्त होता है वह केवल माया के कारण ही होता है । सच पूंछो तो (आत्मा परब्रह्म) जो सत्य वस्तु है वो अविनाशी ही रहेगी । उसका कभीं भी नाश नहीं होगा । और न कभी उसका नाश हुआ है । वायु के जोर से यदि पानी हिलजावे और तरंग के आकार से या तरंग रूप से दीखने लगे तो हे अर्जुन ! तुम ही कहो कि वहां

कौन कहां से और किस कारण जन्म लेता है उसी प्रकार वायु का प्रवाह वंद होकर उदक भी शांत हो जाय तो वहां किसका नाश होता है ? इस बातका कुछ तो विचार करो ॥ १२ ॥

मूल—देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहांतरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

पदच्छेदः—देहिनः । अस्मिन् । यथा । देहे । कौमारं । यौवनं । जरा । तथा । देहान्तरप्राप्तिः । धीरः । तत्र । न । मुह्यति ॥ १३ ॥

अन्वयः—देहिनः अस्मिन् देहे यथा कौमारं यौवनं जरा तथा देहान्तर प्राप्तिः (अस्ति) तत्र धीरः न मुह्यति ॥ १३ ॥

अर्थः—एकही देह में जिस प्रकार बाल्य, युवा व वृद्धावस्थायें आती हैं और जाती हैं उसी प्रकार आत्मा को दूसरे देह की प्राप्ति होती है । ऐसा जानकर ज्ञानी लोग देहांतर प्राप्ति के समय मोह में नहीं गिरते ॥ १३ ॥

टीका--(देहिनइति) और ऐसा देखो कि शरीर तो एक ही रहता है परन्तु वृद्धि के निमित्त से उसके भी भेद दिखाई देते हैं। हे पार्थ ! इसी प्रत्यक्ष प्रमाण को यदि तुम ध्यान में रक्खोगे तो मुझसे कही हुई बात को भी ठीक तरह समझ जावोगे. इसी शरीर में बाल्यदशा दीखती है परन्तु यौवन दशा आने पर वह बाल्यदशा नहीं रहती । इसके अनंतर जब वृद्धावस्था आती है तब वो यौवन दशा भी चली जाती है । परन्तु आत्मा तो जैसा का वैसा ही स्थित रहता है. वह उन तीन दशाओं के साथ नष्ट नहीं होता (तथेति) उसीप्रकार चिच्छक्ति में अनेक प्रकार के शरीर उत्पन्न होते हैं और

नष्ट हो जाते हैं ऐसा जो ज्ञानी जानते हैं उनको भ्रांति से होने वाला दुःख नहीं सहना पड़ता ॥ १३ ॥

मूल—मात्रास्पर्शास्तुकौंतेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

पदच्छेदः—मात्रास्पर्शाः । तु । कौन्तेय । शीतोष्णसुखदुखदाः । आगमापायिनः । अनित्याः । तान् । तितिक्षस्व । भारत ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे भारत ! मात्रास्पर्शाः तु शीतोष्णसुखदुःखदाः आगमापायिनः अनित्याः सन्ति तान् तितिक्षस्व ॥ १४ ॥

अर्थः—हे अर्जुन ! इन्द्रियों से और विषयों से होने वाले सर्व सम्बन्ध शीतोष्ण को और सुख दुःख को उत्पन्न करते हैं परन्तु वे विषय सम्बन्ध अनित्य हैं और इस कारण हे भारत ! उनको मिथ्या जानकर तुम सहा करो ॥ १४ ॥

टीका—(मात्रास्पर्शा इति) परन्तु मनुष्यों को इतना ज्ञान इन्द्रियों के वशमें होजाने से नहिं होता. इन्द्रियां अन्तःकरण को विषयों की ओर खींचती है और इसी कारण से अन्तःकरण भ्रांत होजाता है. इन्द्रियां जब विषयों को भोगती हैं तब ही हर्ष और शोक उत्पन्न होते हैं. इन्द्रियां और विषय ये दोनों ही अन्तःकरण को डुबाने वाले हैं. जिनकी विषयों में आसक्ति नहीं है उनको तो उनसे थोडा ही सुख दुःख प्रतीत होता है. हे अर्जुन ! निन्दा अथवा स्तुति शब्द से ही की जाती है. परन्तु निन्दा युक्त शब्द सुनने से द्वेष और स्तुति युक्त शब्द सुनने से स्नेह उत्पन्न होता है. इसलिये शब्द सामर्थ्य वहुत वडा है ऐसा ही कहना पडता है. मृदुता और कठिनता ये दोनों स्पर्श के गुण हैं परन्तु शरीर संगति

से उनमें से एक तो संतोष और दूसरा खेद उत्पन्न करता है. कुरूपता और सुंदरता ये दो स्वरूप के भेद हैं. परन्तु नेत्रों के द्वारा वे सुख और दुःख को उत्पन्न करते हैं. सुगंध और दुर्गंध ये दो सूंघने के गुण हैं परन्तु नासिका के द्वारा वे आनन्द और दुःखदायक प्रतीत होते हैं. वैसे ही दो प्रकार के रस प्रीति और तिरस्कार उत्पन्न करते हैं. तात्पर्य यह है कि विषय की संगति ही अविचार का उत्पत्ति स्थान है. हे अर्जुन ! विषयों के आधीन हो जाने से शीतता और उष्णता प्राप्त होती है और फिर वह मनुष्य आप स्वयं भी उसमें लिपट जाता है. इंद्रियों को इन विषयोंके अतिरिक्त औरं कुछ भी रमणीय नहीं दीखता और न दीखना यह उनका स्वाभाविक धर्म भी है। (आगमापायिन इति) इन विषयों की ओर देखें तो ये बिचारे मृगजलवत् अथवा स्वप्नवत् क्षणिक है और इन से उत्पन्न होने वाला सुख भी क्षणिक है. इस लिये हे अर्जुन ! तुम उनका त्याग करदो और एक घडी भर भी उनकी संगति में न रहो ॥ १४ ॥

मूल—यं हि न व्यथयंत्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखंधीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

पदच्छेदः—यं । हि । न । व्यथयन्ति । एते । पुरुषं । पुरुषर्षभ । समदुःखसुखं । धीरं । सः । अमृतत्वाय । कल्पते ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे पुरुषर्षभ । यं हि समदुःख सुखं धीरं पुरुषं एते न व्यथयन्ति, सः अमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

अर्थः—हे पुरुष श्रेष्ठ ! सुख दुःखों को जो समान मानता है और जो धैर्यशाली है ऐसे पुरुष को ये विषय संबंधबाधा नहीं दे सकते । हे पार्थ ! वही पुरुष मोक्ष प्राप्ति के योग्य होता है ॥१५॥

टीका-(यं हीति) विषय जिसको वद्ध नहीं करते, (समेति) उसको सुख दुःख भी नहीं होता है। इतनाही नहीं किंतु वह वारंवार गर्भ में भी नहीं आता है । हे अर्जुन ! जो इन विषयों के जाल में नहीं फँसता वो सदासर्वदा शाश्वत रूप ही रहता है ऐसा समझना चाहिये ॥ १५ ॥

मूल--नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽतस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

पदच्छेदः-न । असतः । विद्यते । भावः । न । अभावः । विद्यते । सतः । उभयोः । अपि । दृष्टः । अंतः । तु । अनयोः । तत्वदार्शिभिः ॥ १६ ॥

अन्वयः-असतः भावः न विद्यते सतः अभावः न विद्यते, तत्वदर्शिभिः नु उभयोः अपि अनयो अन्तः दृष्टः ॥ १६ ॥

अर्थः-जो असत्य है वह कभी भी सत्य नहीं होगा। और जो सत्य है उसका कभी भी नाश नहीं होगा । केवल तत्वज्ञानी लोग ही इस सत् असत् के परिणामों को जानते हैं ॥ १६ ॥

टीका-(तत्व दर्शिभिः) हे अर्जुन ! जिसके विचार से परलोक का ज्ञान होगा ऐसी वातको अव मैं कहता हूं। सो तुम दत्त चित्त होकर सुनो। (उभयोरपि दृष्टोऽतस्त्वनयोः) इस जगत में सर्व व्यापक ऐसी एक चैतन्य शक्ती है कि जिसका, तत्वज्ञानी लोग निरंतर विचार करते हैं। पानी में मिले हुए दूध को राजहंस जैसे अलग निकाल लेता है, अथवा सुवर्ण को अग्नि में तपाकर जब शुद्ध करते हैं तबही ज्ञानी उसको ग्रहण करते हैं। या ज्ञानचातुर्य से ददधि मंथन करने पर जैसे उसमें से नवनीत (माखन) उत्पन्न हो

जाता है अथवा धान्य भूसे में मिला हुआ रहने पर भी जैसे ज्ञानी लोग छाजले के द्वारा भूसे को उड़ा कर केवल धान्य का ही स्वीकार करते हैं वैसे (नासते विद्यते भावः) सत्य विचार के अंत में मिथ्या प्रपंच का अस्तित्व स्वयमेव ही नष्ट होकर सत्य वस्तु ही प्रगट हो जाती है । और यथार्थ तत्त्व ही ज्ञान का विषय हो रहता है । इसी लिये अनित्य वस्तु में ज्ञानियों की सत्य बुद्धि नहीं रहती है । क्योंकि दोनों में सत्य क्या है सो वे उत्तम प्रकार से जानलेते हैं ॥ १६ ॥

मूल—अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

पदच्छेदः—अविनाशि । तु । तत् । विद्धि । येन । सर्वं । इदं । ततं । विनाशं । अव्ययस्य । अस्य । न । कश्चित् । कर्तुं । अर्हति । ॥ १७ ॥

अन्वयः—येन इदं सर्वं ततम् तत् तु अविनाशी विद्धि । अस्य अव्यस्य विनाशं कर्तुं कश्चित् न अर्हति ॥ १७ ॥

अर्थः—जिस चैतन्य ने सारे जगत् को व्याप्त कर लिया है उसका कभी भी नाश नहीं होता है, ऐसा तुम समझलो ! कारण कि ऐसे अविनाशी चैतन्य का नाश, कोई भी नहीं कर सकता है ॥ १७ ॥

टीका—(अविनाशी तु तद्विद्धि) हे अर्जुन ! यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो (असार) यही भ्रांति है और सार है सोही स्वाभाविक धर्मानुसार नित्य वस्तु है. इस बात को ध्यान में रक्खो । (येन सर्वं मिदं ततं) जहां से इन तीनों लोकोंके आकार का विस्तार

हुआ है उसके नाम रूप व रंग इन में से एक भी चिन्ह नहीं है (विनाशमिति) वह तो सदा सर्वदा सब जगहमें व्याप्त होकर जन्म मरण से रहित है इस कारण ही उसका घात करना चाहो तो भी नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

मूल–अंतवंत इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

पदच्छेदः–अन्तवन्तः । इमे । देहा । नित्यस्य । उक्ताः । शरीरिणः । अनाशीनः । अप्रमेयस्य । तस्मात् । युद्धयस्व । भारत । ॥ १८ ॥

अन्वयः–अनाशिनः अप्रमेयस्य नित्यस्य शरीरिणः इमे देहा अन्तवन्त (इति) उक्ताः तस्मात हे भारत ! युध्यस्व ॥ १८ ॥

अर्थः–नित्य अविनाशि और मर्यादा रहित ऐसे आत्मा से धारण किये हुए सारे देह नाशवान् हैं ऐसा ज्ञानी लोगों का कथन है. इस कारण हे भारत ! तुम युद्ध करो ॥ १८ ॥

टीका–(अन्तवन्त इमे देहाः) और जितने शरीर अर्थात् समस्त आकार युक्त प्रपंच हैं वे सब स्वभावतः नाश को ही प्राप्त होने वाले हैं (नित्यस्योक्ताः शरीरिणः) (शेषं स्पष्टं) इस कारण हे अर्जुन ! तुम युद्ध करो ॥ १८ ॥

मूल–य एनं वेत्ति हंतारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हंति न हन्यते ॥ १९ ॥

पदच्छेदः–यः । एनं । वेत्ति । हन्तारं । यः । च । एनं । मन्यते । हतं । उभौ । तौ । न । विजानीतः । न । अयं । हन्ति न । हन्यते ॥ १९ ॥

अन्वयः—यः एनं (देहिनं) हन्तारं वेत्ति च यः एनं हतं मन्यते, तौ उभौ न विजानीतः अयं न हन्ति (च) न हन्यते ॥ १६ ॥

अर्थः—आत्मा मारता है और वह मरता भी है ऐसा जो जानते हैं, उन दोनों को भी सत्य तत्व का ज्ञान नहीं हुवा है. ऐसा ही कहना चाहिये। कारण कि यह आत्मा तो किसी को भी मारता नहीं और न ये किसी से मरता है ॥ १६ ॥

टीका—(य एनमिति) तुम तो केवल देहाभिमान से शरीर पर ही दृष्टि रख कर मैं मारने वाला हूं और ये सब मरने वाले हैं ऐसा कह रहे हो. (उभाविति) परन्तु हे अर्जुन ! अभीतक तुम इस वात के सत्य तत्व को नहीं जानते हो । सच पूंछो तो तुम मारने वाले भी नहीं हो और वे सब मरनेवाले भी नहीं हैं ॥१६॥

मूल—न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे२०
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हंति कम् ॥ २१ ॥

पदच्छेदः—न । जायते । म्रियते । वा । कदाचित् । न । अयं । भूत्वा । भविता । वा । न । भूयः । अजः । नित्यः । शाश्वतः । अयं । पुराणः । न । हन्यते । हन्यमाने । शरीरे ॥ २० ॥ वेद । अविनाशिनं । नित्यं । यः । एनं । अजं अव्ययं । कथं । सः। पुरुषः । पार्थ । कं । घातयति । हन्ति । कं ॥ २१ ॥

अन्वयः—अयं कदाचित् न जायते वा न म्रियते वा अयं भूत्वा भूयः अभविता न अयं अजः नित्यः शाश्वतः पुराणः च शरीरे हन्यमाने (सति) न हन्यते ॥ २० ॥ हे पार्थ ! यः एनं अविनाशिनं नित्यं अजं अव्ययं वेद सः पुरुषः कथं कं घातयति कं हन्ति. ॥ २१ ॥

अर्थः—यह आत्मा न कभी उत्पन्न होता है और न कभी यह मरता है। इस ने पूर्वकाल में कभी जन्म लिया था अथवा यह अब मरने वाला है, ऐसी भी बात नहीं है। कारण कि यह तो जन्म रहित, नित्य, शाश्वत व अनादि है। और शरीर का नाश हो जाने पर भी इस का नाश नहीं होता है ॥ २० ॥ हे पार्थ ! आत्मा अविनाशी, नित्य, जन्म रहित और निर्विकार है, इस बात को जो जानता है वह मनुष्य किस से और किस प्रकार आत्मा का वध करायगा अथवा वध करेगा ? ॥ २१ ॥

टीका—(पूर्वार्धाभिप्रायः--न जायत इति) जब तक स्वप्न रहता है तब तक स्वप्न में दीखने वाली बातें सत्य ही प्रतीत होती हैं। (अज इति पदचतुष्टयाभिप्रायः) परन्तु जागते ही जैसे वहां कुछ भी नहीं रहता (न हन्यत्ते हन्यमाने शरीरे) वैसे ही इस माया का कार्य है। परन्तु तुम तो व्यर्थ ही इस के भ्रम में पड़े हुए हो। अरे अर्जुन ! मनुष्य की छाया के ऊपर तलवार चलाने से जैसे उसके शरीर का नाश नहीं होता है (वेदेति पूर्वार्ध भावार्थः) अथवा पानी से भरे हुवे घट को उलटा (औंधा) करने से उस में दीखने वाला सूर्य का प्रतिबिंब भी नष्ट हुआ सा प्रतीत होता है परन्तु जैसे उस से सत्य सूर्य का नाश कदापि नहीं होता, या आकाश घर में व्याप्त होकर घर के आकार जैसा ही बन जाता है परन्तु उस घर के गिरने पर भी जैसे वो आकाश पूर्व रूप में ही बना रहता है (कथमिति) वैसे ही शरीर का नाश हो जावे तो भी आत्मा का कदापि नाश नहीं होता है। सो हे प्रिय अर्जुन ! तुम ऐसी विलक्षण भ्रांति में मत पड़ो ॥ २० ॥ ॥ २१ ॥

मूल—वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा।
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

पदच्छेदः—वासांसि । जीर्णानि । यथा । विहाय । नवानि । गृह्णाति । नरः। अपराणि । तथा । शरीराणि । विहाय । जीर्णानि । अन्यानि । संयाति । नवानि । देही ॥ २२ ॥

अन्वयः—यथा नरः जीर्णानि वासांसि विहाय अपराणि नवानि गृह्णाति, तथा देही जीर्णानि शरीराणि विहाय अन्यानि नवानि संयाति ॥२२॥

अर्थः—जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्र का त्याग करके नयें वस्त्र कों धारण करता है उसीप्रकार आत्मा भी पुराने शरीरों को छोडकर नये शरीरों को धारण करता है ॥ २२ ॥

टीका—(वासांसीति) जिस प्रकार मनुष्य पुराने हुए वस्त्रका त्याग कर के नये वस्त्रों को पहिनता है (तथेति) उसी प्रकार आत्मा भी पुराने हुए शरीरों को छोडकर नये शरीरों को धारण करता है। ॥ २२ ॥

मूल—नैनं छिंदंति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

पदच्छेदः—न । एनं । छिन्दन्ति । शस्त्राणि । न । एनं दहति । पावकः । न । च । एनं । क्लेदयन्ति । आपः । न । शोषयति ।

मारुतः ॥ २३ ॥ अछेद्यः। अयं । अदाह्यः। अयं । अक्लेद्यः । अशोष्यः । एवं । च । नित्यः । सर्वगतः । स्थाणुः । अचलः । अयं । सनातनः ॥ २४ ॥

अन्वय.—एनं (आत्मानं) शस्त्राणि न छिंदंति, पावकः ऐनं न दहति, आपः ऐनं न क्लेदयन्ति, च मारुतः एनं न शोपयति ॥ २३ ॥ अयं अच्छेद्यः, अयं अदाह्यः, अयं अक्लेद्यः च अशोष्यः एव (अस्ति) अयं नित्यः सर्वगतः स्थाणुः अचलः सनातनः ॥ २४ ॥

अर्थः-इस आत्मा को तो शस्त्र भी नहीं तोड सकते, अग्नि भी नहीं जला सकती, पानी भी नहीं भिगो सकता और वायु भी नहीं सुखा सकता ॥ २३ ॥ यह आत्मा टूटने योग्य नहीं है । जलाने योग्य नहीं है, इसको पानी से नहीं भिगो सकेंगे और न यह सुखाने जैसा है । यह तो अविनाशी, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और अखंड रहने वाला है ॥ २४ ॥

टीका—(नैनं छिंदन्ति शस्त्राणि) यह आत्मा उत्पत्ति रहित, नित्यस्वरूप, माया के आवरण से अलिप्त और पवित्र है । इसी कारण शस्त्रादिकों से इसका नाश नहीं होता है । (न चैनं क्लेदयंत्यापः) यह जल प्रलय से नहीं डूबता है । (नैनं दहति पावकः) अग्नि के ज्वाला से इसका जलाना भी संभव नहीं है । (न शोषयति मारुतः) और बड़ा भारी प्रचंड वायू भी इसको नहीं सुखाता है । हे अर्जुन ! (नित्य इति शेषं स्पष्टं) इसका कभी भी नाश नहीं होता है । यह तो अचल और शाश्वत होकर सब जगह में निरंतर परिपूर्ण रूप से ही भरा रहता है ॥ २४ ॥

मूल—अव्यक्तोऽयमचिंत्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितु मर्हसि ॥ २५ ॥

पदच्छेदः—अव्यक्तः । अयं । अचिन्त्यः । अयं । अविकार्यः । अयं । उच्यते । तस्मात् । एवं । विदित्वा । एनं । न । अनुशोचितुं ! अर्हसि ॥ २५ ॥

अन्वयः—अयं अव्यक्तः अयं अचिन्त्यः अयं अविकार्यः इति उच्यते। तस्मात् एनं एवं विदित्वा त्वं अनुशोचितुं न अर्हसि ॥ २५ ॥

अर्थः - इस आत्मा के आकार नहीं है, चित्त से इसका चिन्तन नहीं कर सकते और यह निर्विकार है; ऐसा कहते हैं । इस कारण आत्मा इस प्रकार का है ऐसा जानकर तुमको शोक करना उचित नहीं है ॥ २५ ॥

टीका-(अचिंत्योऽयं) हे किरीटी ! तर्क शास्त्र की दृष्टि से भी इसका (आत्मा का) स्वरूप नहीं दीख सकता । ध्यान तो इसके दर्शन की सदा सर्वदा अभिलाषा रखता है। मन से भी इसकी प्राप्ति होना कठिन है, इतना ही नहीं किन्तु अन्य साधनों से भी इसका लाभ होना परम दुर्घट है । हे अर्जुन ! यह आत्मा (अविकार्योऽयमुच्यते) पुरुषोत्तम, पापरहित, तीनों गुणों से पृथक्, अनादि, अविकृत, (अव्यक्तोयं) व्यक्ति से भिन्न, सर्वरूप और सर्वव्यापक है । (तस्मादिति) इस बात को यदि तुम ध्यान में लावोगे तो तुम्हारा शोक सहज ही में नष्ट हो जावेगा ॥ २५ ॥

मूल—अथ चैनं नित्य जातं नित्यं वा मन्यसेमृतम् ।
तथाऽपि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

पदच्छेदः—अथ । च । एनं । नित्यजातं । नित्यं । वा । मन्यसे । मृतं । तथापि । त्वं । महाबाहो । न । एनं । शोचितुं । अर्हसि ॥ २६ ॥

अन्वय:— अथ च (यदि) एनं नित्यजातं वा नित्यं मृतं मन्यसे तथापि (हे) महाबाहो ! त्वं एनं शोचितुं न अर्हसि ॥ २६ ॥

अर्थः—और यदि तुम ऐसा मानते हो कि आत्मा नित्य उत्पन्न होता है और नित्य मरता है तथापि हे अर्जुन ! उसके लिये भी शोक करना तुमको योग्य नहीं है ॥ २६ ॥

टीका—(अथेत्यवं) अथवा आत्मा इसप्रकार का है यह बात भी यदि तुम्हारे समझ में नहीं आती हो और वह नश्वर ही है ऐसा यदि मानते हो तो भी तुमको शोक करने का क्या प्रयोजन है? कारण कि उत्पत्ति स्थिति और लय ये तीनों बातें गंगा प्रवाह के समान अखंड हैं। यद्यपि गंगाका प्रवाह समुद्र में जा मिलता है तथापि उसके उत्पत्ति स्थान में वह खंडित न होकर जैसे बीच में बहता हुआ ही दीखता है वैसे ये तीनों अवस्थाएं भी निरंतर चल रही हैं। इसबात को ध्यान में रक्खो। कोई भी प्राणी इन अवस्थाओं को नहीं टाल सकता, इसलिये (तथेति) हे पार्थ ! उन गोत्रजों के लिये शोक करना तुम को उचित नहीं है। कारण कि यह सृष्टि चक्र तो अनादि काल से ऐसा ही चला आरहा है। अथवा ये जन्म मृत्यु प्राणि मात्र के पीछे लगे हुए हैं और ये सर्वथा अपरिहार्य हैं, इस बात को भी यदि मानते हो तो भी इनके लिये सोच करना तुम को उचित नहीं है.

मूल—जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्यच ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितु मर्हसि ॥ २७ ॥

पदच्छेदः—जातस्य । हि । ध्रुवः । मृत्युः । ध्रुवं । जन्म । मृतस्य । च । तस्मात् । अपरिहार्ये । अर्थे । न । त्वं । शोचितुं । अर्हसि ॥२७॥

अन्वयः—हि जातस्य मृत्युः ध्रुवः (अस्ति) च मृतस्य जन्म ध्रुवम् (अस्ति) तस्मात् अपरिहार्ये अर्थे त्वं शोचितुं न अर्हसि ॥ २७ ॥

अर्थः—जो उत्पन्न हुआ है सो मरेगा, और जो मरेगा सो निश्चय से ही पुनः जन्म लेवेगा, इस बात को कोई भी नहीं टाल सकता। इसलियेभी तुम को शोककरना उचित नहीं है ॥ २७ ॥

टीका—(जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः) जो उत्पन्न होता है वही नाश को प्राप्त होता है। (ध्रुवं जन्म मृतस्य च) और जिस का नाश होता है वही फिर से उत्पन्न होता है। इस प्रकार का यह उत्पत्ति नाश चक्र अखंड चल रहा है। अथवा सूर्योदय हुवा है तो अस्त भी होगा और अस्त होगा तो आपहीआप फिर से उदय भी होगा। इस बात में जिस प्रकार कुछ भी संदेह नहीं है उसी प्रकार जगत में जन्म के पीछे मृत्यु और मृत्यु के पीछे फिर जन्म होना, इस में भी किसी प्रकार का संदेह नहीं है. । कारण कि ये (जन्म मृत्यु) अनिवार्य हैं। महा प्रलयके समय इन समस्त त्रिभुवन का भी संहार हो जाता है। (तस्माद परिहार्येऽर्थे) तथापि उस के आदि अंत नहीं छूटते। (नत्वं शोचितु मर्हसि) ऐसा यदि तुम मानते हो तो फिर शोक क्यों करते हो ? हे धनुर्धारी ! तुम सब बातों को जानते हुए भी अज्ञान मनुष्य के समान क्यों करते हो ? हे पार्थ ! किसी प्रकार से विचार करें तो भी तुम्हारे शोक करने योग्य ऐसी एक भी बात नहीं दिखती ॥ २७ ॥.

मूल—अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

पदच्छेदः—अव्यक्तादीनि । भूतानि । व्यक्तमध्यानि । भारत । अव्यक्तनिधनानि । एव । तत्र । का । परि देवना ॥ २८ ॥

अन्वयः—(हे) भारत ! भूतानि अव्यक्तादीनि व्यक्तमध्यानि अव्यक्तनिधनानि (सन्ति) एव तत्र परिदेवना का ॥ २८ ॥

अर्थः—हेभारत ! ये सारे भूत अव्यक्त में रहते हैं वीचमें व्यक्त दशाको प्राप्त होते हैं और अंतमें फिर अव्यक्तमेंही जामिलते हैं ॥२८॥

टीका—(अव्यक्तादीनि भूतानि) क्योंकि ये सारे (पंच) भूत जन्म के पहिले निराकार स्वरूप में रहते हैं. और जन्म होते ही इनको आकार की प्राप्ति होती है। (अव्यक्तनिधनान्येव) और अंत में जहां इनका लय होता है वहां इनको इनका पूर्व रूप ही प्राप्त हो जाता है. (व्यक्त मध्यानि भारत) अब वीच में जो इनका स्वरूप दिखता है वो निद्रित मनुष्य के स्वप्न समान-माया के संसर्ग से आत्मा का ही दशाकार वना रहता है। वायु से हिला हुआ पानी जैसा तरंग रूप से दिखता है अथवा लोगों की भिन्न भिन्न इच्छा-नुसार सुवर्ण जैसा भिन्न भिन्न रूप में ही दिखने लगता है वैसा यह संपूर्ण विश्व आकाश में उत्पन्न हुये वादलों के समान माया से ही दशा कार को प्राप्त हुआ है। इस वात को मत भूलो। जिसका जन्म ही नहीं है (तत्र का परिदेवना) उसके लिये तुम क्यों रोते हो? जिस की कभी अप्रसन्नता नहीं होगी ऐसे चैतन्य की ओर तुम ध्यान दो तो सब कुछ हो जावेगा। कारण कि उस के विषय में केवल इच्छा उत्पन्न होने से ही अखिल विषय भोग स्वयमेव ही मनुष्य को छोड़ चले जाते हैं। हे अर्जुन ! इस की प्राप्ति के अर्थ तो कितने ही साधुओं ने आरण्यवास सेवन किया है और वड़े वड़े ऋषि भी इसी की लालसा से ब्रह्मचर्यादि व्रतों को और तपोंको आचरण करते हैं ॥ २८ ॥

मूल– आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन
माश्चर्यवद्वदति तथैव चाऽन्यः ।
आश्चर्य वच्चैव मन्यः शृणोति
शृत्वाप्येनं वेद न चैव काश्चित् ॥ २६ ॥

पदच्छेदः—आश्चर्यवत् । पश्यति । काश्चित् । एनं । आश्चर्य वत् । वदति तथा । एवं । च । अन्यः । आश्चर्यवत् । च । एनं । अन्येः । शृणोति श्रुत्वा । अपि । एनं । वेद । न । च एव । कश्चित् ॥२६॥

अन्वयः—काश्चित् एनं आश्चर्यवत्पश्यति; तथा एव च अन्यः कश्चित् ऐनं आश्चर्यवत् वदति; अन्यः (च कश्चित्) एनं आश्चर्यवत् शृणोति; कश्चित् ऐनं श्रुत्वा अपि न वेद ॥ २६ ॥

अर्थः—कोई तो आत्मस्वरूप को आश्चर्य के समान देखते हैं कोई आश्चर्य है ऐसा उसका वर्णन करते हैं । कोई आश्चर्य करके उसको सुनते हैं और कोईतो उसके गुण सुनने पर भी उसको नहीं जानत हैं ॥ २६ ॥

टीका—(आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनं) कितने ही लोग उस ब्रह्म को शुद्ध अन्तःकरण से देखते देखते स्तब्ध होकर प्रपंच (आवाग् मन) के कष्ट को भूल जाते हैं (आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः) और कितनेक उसके गुणानुवाद गाते गाते ही चित्त में उपरति होने के कारण सदा सर्वदा उसी में ही निमग्न होजाते हैं । कई (आश्चर्यवच्चैव मन्यः शृणोति) उसके गुणानुवाद को सुनते ही समाधान वृति में स्थिर होकर विषयों का त्याग कर देते हैं और अहंभाव को छोड निरिच्छ बन जाते हैं । और कोई कोई उसका अनुभव करके उसी में ही तदाकार हो रहते हैं. सब नदियों के प्रवाह समुद्र में जामि-

लते हैं परन्तु वहां उनका समावेश (नहीं होता ऐसा न होकर) हो-कर जैसे वे पींछे नहीं लौटते हैं वैसे ही योगियों की वुद्धि एकबार उसमें (पर ब्रह्म में) लग जाने से वो भी तत्काल ही तद्रूप हो जाती है और फिर वहां से वह कभी भी पीछे नहीं लौटती है। इसीलिये जिनके चित्त में ऐसे सद्विचार उत्पन्न होते हैं वे कभी पु-नर्जन्म के फेरे में नहीं फंसते हैं ॥ २९ ॥

मूल—देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

पदच्छेदः—देही । नित्यं । अवध्यः । अयं । देहे । सर्वस्य । भारत । तस्मात् । सर्वाणि । भूतानि । न । त्वं शोचितुं अर्हसि ॥ ३० ॥

अन्वयः—हे भारत सर्वस्य देहे अयं देहि नित्यं अवध्यः तस्मात् त्वं सर्वाणि भूतानि शोचितुं न अर्हसि ॥ ३० ॥

अर्थः—हे अर्जुन ! सर्व देहमें रहने वाले देही (आत्मा) का कभी नाश नहीं होता है. इस कारण समस्त भूतोंके लिये भी शोक करना तुमको योग्य नहीं है ॥ ३० ॥

टीका—(देहीति) हे अर्जुन ! इस बात को तुम ध्यान में रक्खो कि सब जगह में और सर्व शरीरों में वही एक जगद्रूप चैत न्य भरा हुवा है, जिसका कि कभी नाश नहीं होसक्ता है। (तस्मादिति) उसी के स्वाभाविक धर्मानुसार यह सारा जगत् उत्पन्न होता है और नाश को प्राप्त होता है इसलिये तुम यहां अब किसके लिये शोक करते हो ? इस बात का उत्तर दो। हे अर्जुन ! तुमको तो स्वयं ही ये सारी वातें समझना चाहिये, परन्तु आज (किस कारण से) तुमको ये वातें नहीं सूझती हैं ? इसका ही आश्चर्य है। हे पार्थ !

कितना भी विचार करके देखें तो भी शोक करना तो सचमुच में अयोग्य ही है ॥ ३० ॥

मूल- स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

पदच्छेदः—स्वधर्मं । अपि । च । अवेक्ष्य । न । विकम्पितुं । अर्हसि । धर्म्यात् । हि । युद्धात् । श्रेयः । अन्यत् । क्षत्रियस्य । न । विद्यते ॥ ३१ ॥

अन्वयः—च स्वधर्मं अपि अवेक्ष्य विकंपितुं न अर्हसि । हि क्षत्रियस्य धर्म्यात् युद्धात् अन्यत् श्रेयः न विद्यते ॥ ३१ ॥

अर्थः—अथवा स्वधर्म की दृष्टि से भी तुमको शोक करना उचित नहीं है । क्योंकि क्षत्रियों के लिये, धर्म युद्ध को छोड़कर कल्याण कारक दूसरा कुछ भी नहीं है ॥ ३१ ॥

टीका—(स्वधर्ममपि चावेक्ष्य) हे अर्जुन ! अब भी तुम इसका विचार क्यों नहीं करते हो ? मन में अनुचित कुतर्क क्यों करते हो ? हे पार्थ ! जिससे तुम्हारी उन्नति होगी ऐसे स्वधर्म को तुम भूल गये हो । आज यदि इन कौरवों पर कोई प्राण संकट आजाय अथवा तुम्हारे पर भी जीवित समाप्त करने की वारी आ जावे इतना ही नहीं किन्तु आज युगांत भी हो जावे तो भी तुमको अपने धर्म को नहीं छोड़ना चाहिये। (न विकंपितुमर्हसि) हे पार्थ! स्वधर्म का त्याग करने से और इस प्रकार की कृपालुता धारण करने से क्या तुम्हारा तरणोपाय होगा ? हे अर्जुन !तुम्हारा चित्त तो दया से आर्द्र हुआ है, परन्तु ऐसे युद्ध प्रसंग में दया का उत्पन्न होना अनुचित ही है । हे पार्थ यद्यपि गौका दूध पवित्र तथा मिष्ट

है तथापि वो कितने ही औषधियों के पथ्य में वर्जनीय है। उसको यदि नवज्जर में देदेवें तो जैसे वह विष के समान हानि कारक हो होता है वैसे ही अनुचित समय में अनुचित काम करने से हानि ही होती है। इसलिये इस समय अब तुम सावधान हो जावो। (धर्म्यांद्धीति) और निरर्थक शोक मत करो। जिसके आचरण करने से किसी समय में भी दोष नहीं लगता ऐसे अपने स्वधर्म की और ध्यान दो। राजमार्ग से जाने में जिस प्रकार कभी हानि नहीं होती है, अथवा दीपक के प्रकाश में चलने से जिस प्रकार कभी ठोकर नहीं लग सकती, उसी प्रकार हे अर्जुन ! अपने धर्मानुकूल आचरण करने से किसी प्रकार कीभी हानि न होकर आपहीआप सर्व मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं। अतः इस समय तुम जैसे क्षत्रियों को युद्ध के अतिरिक्त और कोई काम करना योग्य नहीं है। इस बात को तुम दृढ़ता से ध्यान में रक्खो। हे पार्थ ! निष्कपट भाव से सम्मुख जाकर शत्रु के ऊपर शस्त्र प्रहार करके युद्ध करने का तुमको अनुभव है, इसलिये अबमें तुम्हें अधिक क्या कहूं?॥ ३१॥

मूल—यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभंते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

पदच्छेदः—यदृच्छया । च । उपपन्नं । स्वर्गद्वारं । अपावृतं । सुखिनः । क्षत्रियाः । पार्थ । लभन्ते । युद्धं । ईदृशं ॥ ३२ ॥

अन्वयः—हे पार्थ ! अपावृतं स्वर्गद्वारं (इव) यदृच्छया उपपन्नं ईदृशं युद्धं सुखिनः क्षत्रियाः लभन्ते ॥ ३२ ॥

अर्थः—हे पार्थ ! अनायाससे प्राप्त हुआ यह युद्ध प्रसंग मानो स्वर्ग का द्वार ही खुला हुआ है। इस प्रकार का युद्ध प्रसंग भाग्यवान् क्षत्रियों को ही मिलता है ॥ ३२ ॥

टीका-(यदृच्छया चोपपन्नं) हे अर्जुन! यह अभी का युद्ध प्रसंग मानों तुम्हारे उत्तम भाग्य का ही फल है, अथवा तुमको सर्व धर्मों का खजाना ही प्राप्त हुआ है ऐसा समझो। (स्वर्गद्वारमपावृतं) इसको युद्ध कहने के अतिरिक्त तुमको युद्ध रूप से यह स्वर्ग ही प्राप्त हुवा है अथवा मूर्ति मान पराक्रम का उदय हुवा है, या तुम्हारे गुणों से लुब्ध होकर अत्यंत आसक्त हुई कीर्तिरूपी स्त्री तुम्हारे साथ स्वयंवर करने को ही आईहै ऐसा कहना अधिक योग्य है। हे पार्थ! (सुखिन इति) क्षत्रिय जब महत्पुण्याचरण करते हैं तबही उनको इस प्रकार युद्ध करने का समय प्राप्त होता है। मार्ग से जाते जाते अकस्मात् कोई चिंतामणि मिल जावें अथवा उबासी लेने के अर्थ मुख को खोलें तो अकस्मात् उसमें जिस प्रकार अमृत आकर गिरे उसी प्रकार आज का यह युद्ध प्रसंग प्राप्त हुवा है। इसमें संदेह नहीं करना चाहिये ॥ ३२ ॥

मूल—अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यासि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यासि ॥ ३३ ॥

पदच्छेदः—अथ । चेत् । त्वं । इमं । धर्म्यं । संग्रामं । न । करिष्यसि । ततः । स्वधर्मं । कीर्तिं । च । हित्वा । पापं । अवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

अन्वयः—अथ त्वं इमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि चेत् ततः स्वधर्मं च कीर्तिं हित्वा पापं अवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

अर्थः—ऐसा होने पर भी यदि तुम धर्म युद्ध का त्याग करोगे तो इस लोक में संपादन की हुई कीर्ति व परलोक साधक जो धर्म उसका नाश होगा और उससे तुमको पाप का भागी बनना पड़ेगा ॥ ३३ ॥

टीका—(अथेत्यर्थं) इस प्रकार का युद्ध प्रसंग प्राप्त हुआ देख कर यदि अब तुम मुँह फेर लोगे और जिसके लिये शोक नहीं करना चाहिये उसके लिये यदि शोक करने बैठोगे (ततः स्वधर्मं) तो तुम जान बूझ के ही अपनी हानि करने वाले समझे जाओगे. आज यदि इस रणसंग्राम में तुम शस्त्रको छोडदोगे (कीर्तिं च हित्वा) तो पूर्वजों से इकट्ठे किये हुए यश को भी खोबैठोगे; इतना ही नहीं किन्तु ऐसा करने से तुम्हारी दुष्कीर्ति होगी व उपार्जित की हुई कीर्ति नष्ट होकर सारे जगत की हाय हत्या भी तुम्हें लगेगी। और वडे वडे दोष भी तुम को खोजकर तुम से आ लिपटेंगे. पति विना स्त्रीका जिस प्रकार जिधर देखो उधर अपमान ही होता है उसी प्रकार स्वधर्म को छोडने से मनुष्य की भी वैसी ही दशा होती है (पापमवाप्स्यसि) रण मैदान में पडे हुये प्रेत को देखकर जिसप्रकार गीध इकट्ठे होकर चारों तरफ से उसको चूंट चूंट कर खाते हैं उसी प्रकार वडे वडे दोष भी एकत्रित होकर स्वधर्म त्यागी मनुष्य की ऐसा ही दुर्दशा करते हैं ॥ ३३ ॥

मूल—अकीर्तिंचापि भूतानि कथयिष्यंति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

पदच्छेदः—अकीर्तिं । च । अपि । भूतानि । कथयिष्यन्तिं । ते । अव्ययां । सम्भावितस्य । च । अकीर्तिः। मरणात् । अतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

अन्वयः—अपि च भूतानि ते अव्ययां अकीर्तिं कथयिष्यंति च संभावितस्य अकीर्तिः मरणात् अतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

अर्थः—और सारे लोग तुम्हारी निन्दा करेंगे. संभावित मनुष्यों के लिये दुष्कीर्ति का होना मृत्यु से भी अधिक दुखदायी है ॥३४॥

टीका—(अकीर्तिमित्यर्थं) इसलिये तुम यदि अपना धर्म छोड दोगे तो तुम अवश्य ही पाप के भागी बनोगे. और तुम्हारे सिरपर लग ने वाला अपयश का टीका कल्पांत तक भी नहीं मिटेगा. जब तक शरीर को दुष्कीर्ति का कलंक नहीं लगा है तब तक ही ज्ञानी मनु. ष्यों को जागना चाहिये। (संभावितस्य चाकीर्तिं) हे अर्जुन ! यदि यह बात सत्य है तो फिर तुम यहां से किस प्रकार जा सकते हो ! मत्सरता को छोडकर और सदय अन्तःकरण से व निश्चयपूर्वक यहां से यदि तुम मुँह मोड चले जावोगे तो भी तुम्हारा ऐसा करना इन कौरवों को अच्छा नहीं लगेगा। और जब ये तुमको चारों तरफ से घेर कर तुम्हारे ऊपर बाण छोडना आरम्भ कर देंगे तब हे पार्थ ! तुम अपनी इस कृपालता से नहीं छूट सकोगे, (मरणादतिरिच्यते) और इतने पर भी यदि तुम बडे परिश्रम के साथ अपने जी को कष्ट देकर कदाचित् यहां से चले जावोगे तो भी तुमको तुम्हारी रही हुई आयु मृत्यु से भी अधिक दुखदायी होगी ॥ ३४ ॥

मूल—भयाद्रणा दुपरतं मंस्यंते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

पदच्छेदः—भयात् । रणात् । उपरतं । मंस्यंते । त्वां । महा-रथाः । येषां । च । त्वं । बहुमतः । भूत्वा । यास्यसि । लाघवं ॥३५॥

अन्वयः—महारथाः त्वां भयात् रणात् उपरतं मंस्यंते येषां च त्वं बहु-मतः भूत्वा लाघवं यास्यसि ॥ ३५ ॥

अर्थः—तुम भय से ही युद्ध को छोडकर यहां से भाग गये हो ऐसा ये सारे महारथी मानने लगेंगे. जिससे तुम्हारी बहुमान्यता नष्ट हो जायगी और तुमको जगत में लघुता प्राप्त होगी ॥३५॥

टीकाः—(भयाद्रिति) हे पार्थ ! तुमने जिस बात का विचार नहीं किया वो बात यह है कि यहां तुम बडे समारोह के साथ युद्ध करने को जो आये हो और अब यदि दयार्द्र होकर युद्ध से विमुख हो चले जावोगे (मंस्यन्ते त्वां) तो हे अर्जुन ! तुम ही कहो कि यह तुम्हारी दयालुता क्या तुम्हारे शत्रुओं को सच्ची प्रतीत होगी ?

मूलः—अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यंति तवाहिताः ।
निंदंतस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

पदच्छेदः—अवाच्यवादान् । च । बहून । वदिष्यन्ति । तव । अहिताः निन्दन्तः तव सामर्थ्यं । ततः । ुःखतरं । नु । किं ॥३६॥

अन्वयः—तव सामर्थ्यं निन्दन्तः तव अहिताः, बहून् अवाच्यवादान् वादष्यन्ति ततः दुखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

अर्थः—तुम्हारे शत्रु तुम्हारे पराक्रम की निंदा करके तुम्हारे वारे में चाहे जैसा दुर्भाषण भी करेंगे, तब तुम्हारे लिये इससे अधिक क्या दुखदायी बात होगी. ॥ ३६ ॥

टीका—(अवाच्यवादानिति) वे कहेंगे कि गयारे गया अर्जुन तो हम से डरके भाग गया. तब क्या उनके ये शब्द तुम्हारे कानों को अच्छे लगेंगे हे धनुर्धारी ! अनेक परिश्रम करके अथवा समयानुसार अपना प्राण भी देकर लोग जिस कीर्ति को संपादन करते हैं वही कीर्ति तुमको अनायास से और अकुतोभय से प्राप्त हुई है। गगन जैसा अद्वितीय है वैसे (येषां च त्वं बहुमतो) तुम्हारे में भी

तुम्हारी कीर्ति निरुपम और निःस्सीम है। त्रैलोक्य में तुमही गुणवान् हो। देश देशांतर के राजा लोग भाट बनकर तुम्हारे गुण गाते रहते हैं। सो इसप्रकार की तुम्हारी कीर्ति को सुनकर यम को भी भीति उत्पन्न होती है. और हे अर्जुन ! ऐसा तुम्हारी गंगा के समान उज्वल महिमा को सुनकर बडे बड़े योद्धा भी चकित हो जाते हैं (भूत्वा) हे पार्थ ! तुम्हारे ऐसे अद्भुत पराक्रम को सुनकर ये सारे वीर अपने प्राणों पर उदार हुये हैं. सिंह की गर्जना सुनकर मदोन्मत्त हाथी को भी जिस प्रकार प्रलयकाल के समान भय लगता है उसी प्रकार तुम्हारे सारे शत्रु तुमको देखकर भयभीत होरहे हैं। पर्वत जिस प्रकार वज्र की काण मानते हैं व सांप जैसे गरुड की काण मानते हैं उसी प्रकार ये सारे कौरव तुम्हारी काण मानते हैं। इसलिये यदि अब तुम युद्ध न करके मुँह मोड चले जावोगे तो तुम्हारी प्रतिष्ठा का भंग होकर (यास्यसि लाघवम्) तुम्हें हीनता प्राप्त होगी। इतने पर भी यदि तुम भागने लगोगे तो ये तुम्हें भागने भी नहीं देंगे। वे तो तुमको पकड कर मन माने जैसी तुम्हारी विडंबना करेंगे। और साथ ही मर्मभेदक शब्दों से तुम्हारी निंदा भी करेंगे। हे पार्थ ! फिर जिस समय तुम उस निंदा को सुनोगे (ततो दुखतरं नु किम्) उस समय ही तुम्हारा हृदय फट जावेगा। इससे तो शूरत्व के साथ युद्ध ही क्यों नहीं करना ? यदि वे युद्ध में हार जावेंगे तो तुमको पृथ्वी का राज्य भोगने को मिलेगा ॥ ३६ ॥

मूल--हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौंतय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

पदच्छेदः—हतः । वा । प्राप्स्यासि । स्वर्गं । जित्वा । वा । भोक्ष्यसे । महीं । तस्मात् । उत्तिष्ठ । कौन्तय । युद्धाय । कृत निश्चयः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—हतः स्वर्गं प्राप्स्यसि वा जित्वा महीम् भोक्ष्य से; तस्मात् (हे) कौंतेय ! त्वं कृत निश्चयः (सन्) युध्याय उत्तिष्ट ॥ ३७ ॥

अर्थः—युद्ध में यदि मृत्यु आवेगी तो स्वर्ग प्राप्ति होगी अथवा युद्ध में यदि जय प्राप्ति होगी तो पृथ्वी का राज्य मिलेगा। इस कारण हे अर्जुन ! निश्चय पूर्वक तुम युद्ध के लिये उठो ॥ ३७ ॥

टीका—(हत इति) किंवा इस समर भूमि पर युद्ध करते करते यदि तुम्हें मृत्यु आवेगी तो निश्चय से स्वर्ग सुख भोगने को मिलेगा। (तस्मादिति) इस लिये हे अर्जुन ! तुम अब अयोग्य विचार को त्याग करके शीघ्र ही धनुष को हाथ में लेलो और युद्ध करना प्रारंभ करदो। अरे पार्थ ! धर्मानुकूल आचरण करने से तो किये हुवे दोष भी नष्ट हो जाते हैं; फिर उससे मुझे पाप का भागी होना पडेगा ऐसा अयोग्य विचार क्यों तुम्हारे मन में आता है ? नाव में बैठे तो क्या नाव ही अपने को डुबा देगी ! अथवा राज मार्ग से जाने पर भी क्या ठोकर लगेगी ? इस बात का मुझे उत्तर दो। चलने वाला कोई गंवार होगा तो कदाचित् वैसा होने का संभव है। कारण कि अमृत पान करने से मृत्यु नहीं आती परन्तु उसको यदि विष के साथ सेवन करे तो मनुष्य मर जावेगा उसी प्रकार फल की आशा धारण करके यदि स्वधर्माचरण किया जावेगा तो निश्चयसे दोष का भागी होना पड़ेगा। इस कारण हे अर्जुन ? निरिच्छ होकर सारे हेतुओं को छोड़ और केवल क्षत्रीओं का यह धर्म है

ऐसा समझ कर युद्ध करो तो तुम्हें किसी प्रकार का भी पाप नहीं लगेगा ॥ ३७ ॥

मूल—सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

पदच्छेदः—सुख दुःखे । समे । कृत्वा । लाभालाभौ । जयाजयौ । ततः । युद्धाय । युज्यस्व । न । एवं । पापं । आवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

अन्वयः—सुख दुःखे, लाभालाभौ, जयाजयौ समे कृत्वा ततः युद्धाय युज्यस्व एवं पापं न अपाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

अर्थः—सुख दुःख, लाभ हानि, जय अपजय, इन सवों को एकसा मानकर फिर युद्ध को कटिबद्ध होवोगे तो तुम्हें कभी भी पाप नहीं लगेगा ॥ ३८ ॥

टीका—(सुख दुःखे इति) हे धनंजय ! सुख होवे तो संतोष नहीं मानना चाहिये । दुःख होवे तो खेद करते भी नहीं बैठना चाहिये, और लाभ व हानि को तो मन में भी नहीं लाना चाहिये । इस युद्ध में अपने को जय प्राप्ति होगी या अपने को यहां मरना ही पड़ेगा इस होनहार बात का आज ही विचार करते मत बैठो । (ततो युद्धाय युज्यस्व) स्वधर्मानुकूल आचरण करने से जो कुछ प्राप्त होगा उसको शांत वृत्ति से सहना ही अपने को उचित है । (नैवं पाप मवाप्स्यसि) इसप्रकार यदि तुम अपने मन से निश्चय करोगे तो फिर तुम से दोषमय आचरण नहीं किया जावेगा । इसलिये हे अर्जुन ! अव तुम भ्रांति को छोड़ो और युद्ध करना प्रारंभ करदो ॥ ३८ ॥

मूल—एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोंगे त्विमां शृणु ।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबंधं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

पदच्छेदः—एषा । ते अभिहिता । सांख्ये । बुद्धिः । योगे । तु । इमां । शृणु । बुद्धया । युक्तः । यया । पार्थ । कर्मबन्धं । प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

अन्वयः—हे पार्थ ! एषा ते सांख्ये बुद्धिः अभिहिता तु योगे इमां शृणु, यया बुद्धया युक्तः (त्वं) कर्म बंधं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

अर्थः-हे पार्थ ! अभी तक तुमको मैंने सांख्यज्ञान का उपदेश किया । अब आगे जिससे कर्म बंध नष्ट हो जाता है ऐसे कर्म योग को सुनो ॥ ३९ ॥

टीका—(ऐषेति) यहां तक तो मैंने तुमको थोड़े ही में इस ज्ञान (आत्म तत्व ज्ञान) योग को कहा । अब निष्काम कर्म योग निरूपण करता हूं सो तुम सुनो । (बुध्दयेति) हे अर्जुन ! कर्म करते समय जो पुरुष अपने मन में निष्काम बुद्धि को धारण करता है वो कर्म से वद्ध ऐसे नहीं होता जैसे वज्र का कवच धारण करने से शस्त्रों की वृष्टि को सहता हुवा भी मनुष्य जैसा का तैसा ही बना रहता है, ॥ ३९ ॥

मूल— नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

पदच्छेदः—न । इह । अभिक्रमनाशः । अस्ति । प्रत्यवायः । न । विद्यते । स्वल्पं । अपि । अस्य । धर्मस्य । त्रायते । महतः । भयात् ॥ ४० ॥

अन्वयः—इह अभिक्रमनाशः न अस्ति, प्रत्यवायः न विद्यते । अस्य धर्मस्य स्वल्पं अपि (अनुष्ठानं) महतः भयात् त्रायते ॥ ४० ॥

अर्थः-इस बुद्धियोग में प्रारंभ किया हुआ कर्म यदि बीच में ही खंडित हो जावे तो भी उसका नाश नहीं होता । और उसमें किसी प्रकार की आपत्ति भी नहीं आती है, इतना ही नहीं किंतु इस धर्म का स्वल्प अनुष्ठान भी महाभय से बचा लेता है ॥४०॥

टीका-(नेहाभि क्रम इति) उसी प्रकार ऐहिक सुख का नाश न होते हुए व मोक्ष में वाधा न आकर इसी में ही पूर्व कहा हुवा ज्ञान योग उत्तम प्रकार से व्यक्त होता है । सब विहित कर्म करने में सदैव तत्पर रहना परन्तु उससे मिलने वाले फल के ऊपर दृष्टि नहीं रखनी चाहिये । जिस प्रकार, मंत्र वेत्ताओं को भूतों से वाधा नहीं होती उसी प्रकार परिपूर्ण बुद्धि प्राप्त होने से रही हुई उपाधि भी मनुष्य को बद्ध नही कर सकती । जिस बुद्धि में पाप पुण्य का प्रवेश नहीं होता, जो अत्यंत सूक्ष्म और निश्चल है और जिसको गुणत्रय का संसर्ग भी नहीं होता है; हे अर्जुन! इस प्रकार की सु-बुद्धि यदि पुण्यप्रताप से हृदय में प्रगट हो जावे (स्वल्पमिति) तो उससे संसार का सारा भय जड़ मूल से ही नष्ट हो जाता है॥४०॥

मूल—व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन ।
बहुशाखाह्यनंताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

पदच्छेदः—व्यवसायात्मिका । बुद्धिः । एका । इह । कुरुनन्दन बहुशाखाः । हि । अनन्ता । च । बुद्धयः । अव्यवसायिनी ॥ ४१ ॥

अन्वयः—हे कुरुनंदन ! इह व्यवसायात्मिका बुद्धिः एका एव, अव्यवसायिनां बुद्धयः बहुशाखाः च अनन्ताः (सन्ति) हि ॥ ४१ ॥

अर्थः—हे अर्जुन ! इस कर्म योग में एक ही निश्चयात्मक बुद्धि है। और निश्चय हीन मनुष्यों की बुद्धि अनेक प्रकार की व अनेक दोषों से युक्त रहती है ॥ ४१ ॥

टीका—(व्यवसायेति) दीपक की ज्योति छोटी सी ही होती है परन्तु उसका प्रकाश वहुत होता है। उसी प्रकार छोटी सी सद्-वुद्धि से भी वहुत उत्तम कार्य हो जाते हैं। इसलिये उसको छोटी नहीं कहना चाहिये। हे पार्थ! जिस सुवुद्धि का इस चराचर में मि-लना दुर्लभ है उसी को प्राप्त करने के अर्थ ज्ञानी लोग इच्छा क-रते हैं। और पदार्थों के समान जैसे पारस की खान नहीं मिलती अथवा अमृत का एक घूंट प्राप्त करने को भी प्रारब्ध बलवान होना चाहिये उसी प्रकार जिस सद्वुद्धि का अंतिमस्थान परमात्मा ही है ऐसी सद्वुद्धि प्राप्त होने को भी वलिष्ट भाग्य होना चाहिये। नहीं तो, मिलना दुर्लभ ही है। गंगा को समुद्र बिना जैसा दूसरा कोई आश्रय नही है अथवा जिस प्रकार गंगा सदैव समुद्र ही से जा मिलती है उसी प्रकार सद्वुद्धि के लिये भी ईश्वर प्राप्ति के अति-रिक्त कोई भी कर्त्तव्य नहीं रहता है। वो तो निरंतर ईश्वर में ही जा मिलती है। हे अर्जुन ! सारे जगत् में इस प्रकार की एक ही सद्बुद्धि है। (बहुशाखा इति) उसके अतिरिक्त जितनी बुद्धियां हैं वे सारी दुर्वुद्धियां ही हैं। वे वहुधा विकार युक्त रहती हैं, और उसमें अविचारी लोग ही रमते हैं। इसलिये हे अर्जुन ! उनको क्षणिक सुख (संसार) और नरकावस्था ही प्राप्त होती है। उनको स्व-रूपानन्द आत्मसुख तो कभी भी नहीं मिलता है ॥ ४१ ॥

मूल—यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदंत्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥

पदच्छेदः—यां । इमां । पुष्पितां । वाचं । प्रवदन्ति । अविपश्चितः । वेदवादरताः । पार्थ । न । अन्यत् । अस्ति । इति । वादिनः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—हे पार्थ ! वेदवादरताः अविपश्चितः अन्यत् न अस्ति इति वादिनः यां इमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्ति ॥ ४२ ॥

अर्थः—हे अर्जुन ! जो लोग केवल वेदार्थ में ही रत होते हैं वे कर्म के सिवाय, और कुछ भी नहीं है ऐसी रसयुक्त वाणी बोलते हैं ॥ ४२ ॥

टीका—(वेदवादरताः पार्थ) वे वेदानुसार भाषण करके केवल कर्म की स्थापना करते हैं. परन्तु कर्म फलेच्छा का त्याग नहीं करते । (स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदां) उनका कहना ऐसा है कि संसार में जन्म लेकर यज्ञादिक कर्म करना और (यामिमां पुष्पितां वाचं) फिर मनोहर स्वर्ग सुख को भोगना, यही उत्तम पक्ष है. हे अर्जुन ! ऐसे जो अल्पमति हैं वे (नान्यदस्तीतिवादिनः) स्वर्ग सुख के सिवाय और कोई भी उत्तम सुख नहीं है (प्रवदन्त्याविपश्चितः) ऐसा कहा करते हैं ॥ ४२ ॥

मूल—कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥

पदच्छेदः—कामात्मानः । स्वर्गपराः । जन्मकर्मफलप्रदां । क्रियाविशेषबहुलां । भोगैश्वर्यगतिंप्रति ॥ ४३ ॥

अन्वयः—कामात्मानः स्वर्गपरा भोगैश्वर्यगतिं प्रति क्रियाविशेषबहुलां जन्मकर्मफलप्रदाम् ॥ ४३ ॥

अर्थः—जो विषयभोग की अभिलाषा रखकर स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा करते हैं, ऐसे मनुष्य, जन्म कर्म फल देने वाले और अनेक कर्मों का प्रतिपादन करने वाले ऐसे वेदानुसार आचरण करते हैं ॥ ४३ ॥

टीका—(कामात्मान इति) हे अर्जुन ! वे तो केवल सुखोपभोग पर दृष्टि रखकर (भोगैश्वर्यगतिं प्रति) सहेतुक कर्माचरण करते हैं। वे (क्रियाविशेष बहुलां) अनेक प्रकार के अनुष्ठान सिद्ध होने के अर्थ सविधि और अत्यंत धर्मनिष्ठा से कर्म किया करते हैं ॥४३॥

मूल—भोगैश्वर्य प्रसक्तानां तयापहृत चेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

पदच्छेदः—भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां । तया । अपहृतचेतसां । व्यवसायात्मिका । बुद्धिः । समाधौ । न । विधीयते ॥ ४४ ॥

अन्वयः—तया अपहृतचेतसां भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तेषां व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

अर्थः—जो, भोग व ऐश्वर्य में आसक्त हैं और मेरी वेदवाणी से जिनका चित्त वशीभूत होगया है, उनके चित्त में आत्मतत्व व कर्मयोग में रुचि रखनेवाली बुद्धि नहीं रहती है ॥ ४४ ॥

टीका-(व्यवसायेति) परन्तु उसमें वें एक वात अच्छी नहीं करते हैं।वो यह है कि वे अपने मन में स्वर्गेच्छा रखते हैं। जिससें उनको यज्ञभोक्ता परमेश्वर की प्राप्ति नहीं होती है।कपूर की राशि में जिसप्रकार आग लगा दें अथवा उत्तमोत्तम पकान्न वनाकर उस में कालकूट विष मिला देवें, या दैवयोग से मिले हुये अमृत से भरे घडे को ठोकर से फोड डालें उसीप्रकार वे स्वयमेव उत्पन्न

हुये धर्म को सहेतुक आचरण करके विगाड देते हैं और मुख्य वस्तु को नहीं पाते हैं. वहुत प्रयत्न से पुण्य संपादन करनेपर फिर संसार की इच्छा क्यों करनी चाहिये ? (तयापहृतचेतसां) परन्तु अज्ञानियों को यह वात नहीं सूझती. इसका क्या करें ? (भोगैश्वर्य-प्रसक्तानां) कोई स्त्री उत्तमोत्तम पकान्न तयार करके और उसका स्वाद भी न लेकर जिस प्रकार द्रव्य लोभ से उसको वेच डालती है उसी प्रकार अविचारी लोग भोग के लिये धर्म को खो वैठते हैं, इस लिये हे अर्जुन! इस वात को ध्यान में रक्खो कि जो लोग केवल वेदों ही के अर्थ में मग्न हुये हैं उनके मन में निरंतर स्वल्पबुद्धि ही वास करती है. ॥ ४४ ॥

मूल--त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५ ॥

पदच्छेदः--त्रैगुण्यविषया । वेदाः निस्त्रैगुण्यः । भव । अर्जुन । निर्द्वन्द्वः । नित्यसत्त्वस्थः । निर्योगक्षेमः । आत्मवान् ॥ ४५ ॥

अन्वयः--हे अर्जुन ! वेदाः त्रैगुण्यविषयाः सन्ति (त्वं) निस्त्रैगुण्यः निर्द्वंद्वः नित्यसत्वस्थाः निर्योगक्षेमः च आत्मवान् भव ॥ ४५ ॥

अर्थः--हे अर्जुन ! वेदों में तो सत्व रज और तम इन तीन गुणों का ही वर्णन किया है, इस कारण तुम गुणातीत वनो । मैं और मेरा इस भावना को छोड़ दो । नित्य सत्व गुण में स्थिर रहो, अपने निर्वाह की भी चिंता मत करो और आत्म स्वरूप में चित्त लगावो ॥ २५ ॥

टीका--(त्रैगुण्याविषया वेदा) वेद तो निःसंदेह तीन गुणों से वेष्ठित है । इसलिये उपनिषदों को सात्विक कहते हैं । हे धनुर्धारी !

जिसमें दूसरे कर्मादिकों के विषयों का वर्णन किया है वे भी सब रजो गुण और तमोगुण से वेष्ठित हैं। कारण कि उसमें केवल स्वर्ग का ही विषय कहा हुवा है। (निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन) इससे वे सुख दुःख को ही उत्पन्न करते हैं। इस में संदेह मत करो। और अपने मन को भी उसमें मत जाने दो। तुम तीनों गुणों को छोड़ दो, मैं और मेरा ऐसी भावना का भी त्याग करदो (निर्द्वंद्वो नित्यसत्वस्थो) और अंतःकरण में निरंतर (निर्योगक्षेम आत्मवान्) आत्म सुख की ही लालसा रहने दो ॥ ४५ ॥

मूल—यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

पदच्छेदः—यावान्। अर्थः। उदपाने। सर्वतः। संप्लुतोदके। तावान्। सर्वेषु। वेदेषु। ब्राह्मणस्य। विजानतः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—यावान् अर्थं उदपाने (तावान्) सर्वतः संप्लुतोदके (भवति) (यावान् च अर्थः) सर्वेषु वेदेषु तावान् विजानतः ब्राह्मणस्य (भवति) ॥४६॥

अर्थः—अल्प जलाशय में कष्ट के साथ किये जाने वाले कर्म जिस प्रकार बड़े जलाशय में सुलभता से किये जाते हैं उसी प्रकार वेदों में कहा हुआ कष्ट मय फल ब्रह्मज्ञानी को अनायास ही प्राप्त होजाता है ॥ ४६ ॥

टीका—(यावानिति) यद्यपि वेदों में बहुत सी बातें कही हैं और नाना प्रकार के भेद भी दिखायें हैं तो भी जिससे अपना कल्याण होगा ऐसे मार्गानुसार ही अपने को आचरण करना चाहिये। कारण कि सूर्योदय होने से यद्यपि हजारों मार्ग दीखने लगते हैं तथापि उन सबोंपर से किस प्रकार चल सकते हैं ? अथवा चारोंओर

जलमय हो जाय तो भी अपने को अपनी तृषा शांत हो जावे इतना ही पानी पीना चाहिये। (तावानिति) उसी प्रकार ज्ञानी लोग वेदों के अर्थ का विचार करके फिर उसमें कल्याण कारक और शाश्वत ऐसा जो तत्व हो उसी का ही स्वीकार करते हैं ॥ ४६ ॥

मूल—कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भू मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

पदच्छेदः—कर्मणि। एवं। अधिकारः। ते। मा। फलेषु। कदाचन। मा। कर्म। फल। हेतुः। भूः। मा। ते। संगः। अस्तु। अकर्मणि ॥ ४७ ॥

अन्वयः—(हे पार्थ) ते अधिकारः कर्मणि एव, मा फलेषु कदाचन त्वं कर्म फल हेतुः मा भूः च अकर्मणि ते संगः मा अस्तु ॥ ४७ ॥

अर्थः—हे अर्जुन! तुम को तो केवल कर्म करने का ही अधिकार है। तुम फलेच्छा को धारण करके फल के अधिकारी मत बनो और कर्म करने में भी आग्रह मत रक्खो ॥ ४७ ॥

टीका—(कर्मण्येवाधिकारस्ते) इसलिये हे अर्जुन! इन सब बातों का विचार करने से तो तुमको अपना कर्म ही करना योग्य है। मैंने सर्व प्रकार से विचार करके देखा तो मुझे ऐसा विदित हुआ कि तुमको अपने विहित कर्त्तव्य कर्मों को नहीं छोड़ना चाहिये। (मा फलेषु कदाचन) उसमें इतना ही है कि कर्म से प्राप्त होने वाले फल की आशा मत रक्खो। (मा ते संगोऽस्त्व कर्मणि) और निषिद्ध कर्मों के संपर्क से बचते रहना चाहिये। (मा कर्म फलहेतुर्भूः) तथा विनाहेतु तुमको इस सत्कर्म का आचरण भी करते रहना चाहिये ॥ ४७ ॥

मूल----योगस्थ कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्य सिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

पदच्छेदः--योगस्थः। कुरु। कर्माणि। संगं। त्यक्त्वा। धनंजय। सिद्ध्यसिद्ध्योः। समः। भूत्वा। समत्वं। योगः। उच्यते॥४८

अन्वयः—हे धनंजय! त्वं संगं त्यक्त्वा सिद्धसिद्ध्योः समः भूत्वा योगस्थः (सन्) कर्माणि कुरु समत्वं योगः उच्यते॥ ४८॥

अर्थः--हे धनंजय! तुम सारे कर्मों को ईश्वरार्पण करते हुए कर्तृत्व का अभिमान छोड़कर और फलेच्छा का त्याग करके कर्म करो। प्रारंभ किया हुवा कर्म पूर्ण होवे या अपूर्ण ही रहजावे तो भी उसका हर्ष या शोक मत करो। कारण कि सुख दुःख में समता रखने ही को योग कहते हैं॥ ४८॥

टीका—(योगस्थ इत्यर्धं) हे धनंजय! तुम योगयुक्त (निष्काम) होकर फल की आपेक्षा छोंडदो और मन लगाके कर्म करो (सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा) आरंभ किया हुवा कर्म यदि दैवयोग से यथा विधि सिद्ध होजावे तोभी उसका हर्ष मत मानो अथवा किसी कारण से यदि वो कर्म सिद्ध न हो और अपूर्ण ही पड़ा रहजाय तो भी असंतोष से दुःखित मत होवो। (क्योंकि) कर्माचरण करते करते सिद्धि प्राप्त हुई तो अपना काम ही वनगया। अथवा सिद्धि न हुई और कर्म वीच में अधूरा ही पड़ा रहा तो भी सफल हुवा ऐसा ही मानना चाहिये। हे अर्जुन! जितना कुछ कर्म किया जावेगा उसको ईश्वरापर्ण कर देनेसे वह सहज ही में परिपूर्ण होजाता है, इस बात को मत भूलो. (समत्वं योग उच्यते) हे पार्थ! कर्म करने में जो लाभ या हानि होती है उससे मनोधर्म का भंग न होने देना और

दोनों अवस्थाओं में सम रहना इसको ही योग स्थिति कहते हैं। और बड़े बड़े महात्मा लोग इसी स्थिति की ही प्रशंसा किया करते हैं ॥ ४८ ॥

मूल—दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

पदच्छेदः—दूरेण । हि । अवरं । कर्म । बुद्धियोगात् । धनंजय बुद्धौ । शरणं । अन्विच्छ । कृपणाः । फलहेतवः ॥ ४९ ॥ बुद्धियुक्तः । जहाति । इह । उभे । सुकृतदुष्कृते । तस्मात् । योगाय । युज्यस्व । योगः । कर्मसु । कौशलं ॥ ५० ॥

अन्वयः—हे धनंजय ! (फलाभिसंधिनाकृतं) कर्म बुद्धियोगात् दूरेण अवरं हि यतःएवं, ततः बुद्धौ शरणं अन्विच्छ फल हेतवः कृपणः (सन्ति) ॥ ४९ ॥ बुद्धियुक्तःइह उभे सुकृतदुष्कृते जहाति तस्मात् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् अस्ति ॥ ५० ॥

अर्थः—हे अर्जुन ! ईश्वरार्पण करने के हेतु से किये हुए कर्मसे फल की इच्छा से किये हुए कर्म की योग्यता कम है। इस कारण तुम बुद्धियोग के ही शरण में जावो ॥ ४९ ॥ बुद्धियोग से कर्म करने वाला मनुष्य इसीलोक में पापपुण्यरूपी फल के बंधन से मुक्त होजाता है। इस कारण तुम समत्व बुद्धियोग को साध्य करलो। कारण कि कर्म को ईश्वरार्पण करने में ही कर्म करने का कौशल्य है ॥ ५० ॥

टीका—(बुद्धियोगाद्धनंजय) हे पार्थ! चित्त में समता धारण करना यही योग का सत्य तत्व है, और उसी से मन और बुद्धि की

एकता होती है। ऐसे बुद्धियोग का विचार करने लगे तो हे अर्जुन! (दूरेण ह्यवरं कर्म) (सकाम) कर्मयोग अत्यन्त निकृष्ट स्थिति का प्रतीत होता है. (तस्मादिति) परन्तु उसी कर्मयोग के आचरण से इसप्रकार का बुद्धि योग प्राप्त होता है। कारण कि कर्म सिद्धि से सहज में ही योगसिद्धि प्राप्त होती है। इसलिये यह बुद्धियोग श्रेष्ठ है। (बुद्धौ शरणमन्विच्छेति) हे अर्जुन ! तुम तो इसी में ही स्थिर रहो और अन्तःकरण से फल के हेतु का त्याग करदो. (बुद्धियुक्तइति) जो कोई बुद्धियोग का आचरण करने में प्रवृत्त होते हैं वे सब पार होजाते हैं और इस पाप पुण्य के फंदे से मुक्त होजाते हैं. ॥ ४६ ॥ ५० ॥

मूल—कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबंधविनिर्मुक्ताः पदं गच्छंत्यनामयम् ॥ ५१ ॥

पदच्छेदः—कर्मजं । बुद्धियुक्ताः । हि । फलं । त्यक्त्वा । मनीषिणः । जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः । पदं । गच्छन्ति । अनामयं ॥ ५१ ॥

अन्वयः—हि बुद्धियुक्ता मनीषिण (भूत्वा) कर्मजं फलं त्यक्त्वा जन्मबन्धविनिमुक्ताः (सन्तः) अनामयं पदं गच्छन्ति ॥ ५१ ॥

अर्थः—इस कारण समत्व बुद्धि को धारण करने वाले ज्ञानी लोग कर्म फल की आशा को छोडकर और जन्मबंध से मुक्त होकर सुखमय ऐसे ब्रह्मपद को जा पहुंचते हैं ॥ ५१ ॥

टीका—(कर्मजमिति) वे लोग कर्म तो करते हैं परन्तु कर्म फल को स्पर्श भी नहीं करते हैं (जन्मबन्धाविनिमुक्ताः) इस कारण हे अर्जुन ! उनको पुनर्जन्म का दुःख नहीं सहना पडता. (पदं गच्छं-

त्यनामंथ) हे धनुर्धारी! फिर वे बुद्धियोगयुक्त होकर ब्रह्मानंद से भरे हुवे अविनाशी पद को पहुंचते हैं ॥ ५१ ॥

मूल—यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गंतासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

पदच्छेदः—यदा । ते । मोहकलिलं । बुद्धिः । व्यतितरिष्यति । तदा । गंता । असि । निर्वेदं । श्रोतव्यस्य । श्रुतस्य । च ॥ ५२ ॥

अन्वयः—यदा ते बुद्धिः मोहकलिलं व्यतितरिष्यति, तदा त्वं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च निर्वेदं गंतासि ॥ ५२ ॥

अर्थः—जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूपी पाप को तर जावेगी तब तुमने जो कुछ सुना है या जो कुछ तुम को सुनने का है इन दोनों बातों के विषय में तुम आसक्ति रहित हो जावोगे ॥ ५२ ॥

टीका— (यदाते मोहेति) जब तुम इस मोह का त्याग कर देगे तब तुम भी वैसे बन जावोगे और तुम्हारे मन में वैराग्य उत्पन्न हो जायगा । (तदेति) फिर जिस समय उस वैराग्य से तुम को निर्दोष और गहन ऐसा आत्मज्ञान प्राप्त होकर आप ही आप तुम निष्काम हो जावोगे, उस समय हे अर्जुन ! और कहीं का ज्ञान प्राप्त कर लेवें अथवा पूर्व ज्ञान का कुछ स्मरण करें ये बातें भी जहां की तहां रह जावेंगीं ॥ ५२ ॥

मूल—श्रुतिविप्रतिपन्नाते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

पदच्छेदः—श्रुतिविप्रतिपन्ना । ते । यदा । स्थास्यति । निश्चला । समाधौ । अचला । बुद्धिः । तदा । योगं । अवाप्स्यसि ॥ ५४॥

अन्वयः—यदा ते श्रुतिविप्रतिपन्ना बुद्धिः निश्चला(भूत्वा) समाधौ अचला स्थास्यति तदा योगं अवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

अर्थ—नाना प्रकार के वेद वाक्यों को सुन कर भ्रांत हुई हुई तुम्हारी बुद्धि जब निश्चल हो जावेगी तब ही तुम को योगस्थिति प्राप्त होगी ॥ ५३ ॥

टीका—(श्रुतीति) जो तुम्हारी बुद्धि इंद्रियों के संगति से इधर उधर दोड़रही है वो फिर आत्मस्वरूप में स्थिर हो जावगी। (समाधाविति) और जब तुम्हारी बुद्धि केवल समाधिसुख में ही लगी रहेगी तब ही तुम पूर्ण योगस्थित को पहुंचोगे ॥ ५३ ॥

मूल—अर्जुन उवाच—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थित धीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

पदच्छेदः—स्थितप्रज्ञस्य । का । भाषा । समाधिस्थस्य । केशव । स्थितधीः । किं । प्रभाषेत । किं । आसीत । व्रजेत । किं ॥ ५३॥

अन्वयः—हे केशव ! समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भाषा ? स्थित धीः किं प्रभाषेत ? किं आसीत ? किं व्रजेत ? ॥ ५४ ॥

अर्थः—अर्जुन नें कहा—हे केशव ! बुद्धि स्थिर होने से जिसको योगस्थिति प्राप्त हुई है उसको इस लोक में क्या कहते हैं ? वो किस प्रकार रहता है, किस प्रकार बोलता है और किस प्रकार वर्ताव करता है ? ॥ ५४ ॥

टीका—(अर्जुन उवाच) तब अर्जुन बोला, हे प्रभो ! कृपानिधे ! मैं आपको इसका सारा खुलासा पूंछता हूं सो आप मुझको कहिये।

अर्जुन के इस भाषण को सुनकर कृष्ण परमात्मा कहते हैं हे किरीटी ! तुमने प्रश्न तो उत्तम पूंछा है । और हे पार्थ! इसके अतिरिक्त और भी तुमको मनःसंतोष से जो कुछ पूंछना हो सो तुम चित्त में किसी प्रकार का भी भय न रखते हुए पूंछो । तब अर्जुन ने कहा कि (स्थितिप्रज्ञस्य का भाषा) " स्थिरबुद्धि " किसको कहते हैं ? और उसको किस प्रकार पहचानना चाहिये. इस बात का खुलासा कीजिये । और (स्थित धीः) जिसको स्थिर बुद्धि कहते हैं. (किं प्रभाषेत) उसको किस प्रकार जानें व जो समाधि का अखंड सुख भोगता है (समाधिस्थस्य केशव) उसके लक्षण भी बता दीजिये । (किमासीत) वो किस प्रकार से रहता है ? (व्रजेत किं) और किस रूप से बर्ताव करता है ? हे प्रभो ! हे लक्ष्मीपते ? ये सब बातें मुझे बता दीजिये । जब अर्जुन ने ऐसे प्रश्न किये तब परब्रह्म का अवतार व षडगुणों का आधार, ऐसे श्रीकृष्णजी बोलने लगे ॥ ५४ ॥

मूल–श्रीभगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

पदच्छेदः–प्रजहाति । यदा । कामान् । सर्वान् । पार्थ । मनोगतान् । आत्मना । एव । आत्मना । तुष्टः । स्थितप्रज्ञः । तदा । उच्यते ॥ ५५ ॥

अन्वयः–हे पार्थ ! यदा मनोगतान् सर्वान् कामान् प्रजाहाति आत्मनि एव आत्मनातुष्टश्च । भवति । तदास्थित प्रज्ञः उच्यते ॥ ५५ ॥

अर्थः–श्रीकृष्णजी ने कहा–हे अर्जुन ! जब मनकी सारी

वासनायें नष्ट करके जो आत्मज्ञान से स्वयं अपने में ही सन्तुष्ट रहता है तब उसको स्थितप्रज्ञ ऐसा कहते हैं ॥ ५५ ॥

टीका:—(श्रीभगवानुवाच) उन्हों ने कहा हे पार्थ! सुनो। (मनोगतान्) मन की प्रबल इच्छा ही अपने (आत्म) सुख की वीघातक होती है। जो निरंतर तृप्त है, जिसका अतःकरण आत्मज्ञान से भरा हुआ है, विषय में पतन (प्रजहातियदा कामान् सर्वान्) करने वाले सारे दुष्ट कामों से जो निवृत्त हुवा है (आत्मन्येवात्मनातुष्टः) और जिसका मन आत्मसुख में निमग्न हुवा है वो ही पुरुष स्थिरबुद्धि है ऐसा समझो ॥ ५६ ॥

मूल—दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

पदच्छेदः—दुःखेषु । अनुद्विग्नमनाः । सुखेषु । विगतस्पृहः । वीतरागभयक्रोधः । स्थितधीः । मुनिः । उच्यते ॥ ५६ ॥

अन्वयः—दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः वीतरागभयक्रोधः मुनिः स्थितधीः उच्यते ॥ ५६ ॥

अर्थः—दुःख प्राप्ति से जिसका मन उद्विग्न नहीं होता और जिसको सुख प्राप्ति की इच्छा नहीं है, इस कारण जिसके अन्तःकरण से काम क्रोध भयादि विकार चले गये हैं ऐसा जो मुनि है, उसी को स्थितप्रज्ञ कहते हैं ॥ ५६ ॥

टीका--(दुःखेष्विति) हे अर्जुन ! इस बात को ध्यानमें रक्खो कि अनेक दुःख प्राप्त हुये तो भी जिसके मन को उद्विग्नता नहीं आती है और जो सुख की आशा में नहीं फँसता है, और हे अर्जुन! (वीतरागभयक्रोधः) जिसके चित्तमें काम क्रोधादि विकार रहते ही

नहीं ऐसे पूर्णावस्था को पहुंचे हुए उस मनुष्य को फिर भय का नाम भी नहीं सुनाई देता है. (स्थितधीर्मुनिरुच्यते) इसप्रकार संसार को त्याग कर जो भेदरहित हो जाता है, वो ही उत्तम व स्थिर बुद्धि है ॥ ५६ ॥

मूल—यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनंदति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

पदच्छेदः—यः । सर्वत्र । अनभिस्नेहः । तत् । तत् । प्राप्य । शुभाशुभं । न । अभिनन्दति । न । द्वेष्टि । तस्य । प्रज्ञा । प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

अन्वयः— यः सर्वत्र अनभिस्नेहः तत्तत् शुभाशुभं प्राप्य न अभिनंदति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

अर्थः—जिसको सारे विषयों में अरुचि उत्पन्न हुई है और जिसको प्रतिकूल व अनुकूल विषय प्राप्त होने से सुखदुःख नहीं होता, उसकी ही बुद्धि स्थिर हुई है ऐसा समझना चाहिये ॥५७॥

टीका-(यः सर्वत्रानभिस्नेहः) जिसप्रकार चंद्रमा किसी की उत्तमता को या किसी की अधमता को मन में न लाकर सब जगह सर्व कला द्वारा प्रकाश करता है उसीप्रकार जो परिपूर्णावस्था को पहुंच कर अखंड समबुद्धि को धारण करके प्राणीमात्र के ऊपर दया करता है (तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्) और किसी समय भी जिस के चित्त की स्थित नहीं पलटती; (नाभिनंदति न द्वेष्टि) कुछ भी अच्छा हुवा तो जो हर्ष नहीं दिखाता अथवा कुछ भी बुरा हुवा तो जो उससे खिन्न नहीं होता है, हे अर्जुन ! इस प्रकार जो हर्ष व शोक को छोडकर सदैव आत्मबोध ही में रमता है (तस्यप्रज्ञा प्रतिष्ठिता) उसी की स्थिर बुद्धि है ऐसा मानो ॥ ५७ ॥

मूल--यदा संहरते चायं कूर्मोऽगानीव सर्वशः।
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

पदच्छेदः--यदा। संहरते। च। अयं। कूर्मः। अंगानि। इव सर्वशः। इन्द्रियाणि। इन्द्रियार्थेभ्यः। तस्य। प्रज्ञा। प्रतिष्ठिता। ॥ ५८ ॥

अन्वयः--यदा च कूर्मः अङ्गानि इव अयं इंद्रियार्थेभ्यः इंद्रियाणि संहरते, तदा तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

अर्थ--जिस प्रकार कछवा अपनी इच्छानुसार इंद्रियां संकोचित कर लेता है उसी प्रकार जो अपनी इंद्रियों को विषयों से दूर करके अपने आधीन रखता है उस की ही बुद्धि स्थिर हुई है ऐसा समझो ॥ ५८ ॥

टीका--(यदेति) अथवा कछवा जब आनंद में रहता है तब वो जैसे अपने हाथ पांव को वाहर पसारता है अथवा चाहे जब अपने हाथ पांव को भीतर खींच लेता है (इन्द्रियाणीति) वैसे सर्व इन्द्रियां आधीन रहकर जिसके आज्ञानुसार चलती हैं, उसकी ही बुद्धि स्थिर हुई है ऐसा समझना उचित है ॥ ५८ ॥

मूल--विषया विनिवर्तंते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

पदच्छेदः--विषयाः। विनिवर्तन्ते। निराहारास्य। देहिनः। रसवर्जे। रसः। अपि। अस्य। परं। दृष्ट्वा। निवर्तते ॥ ५९ ॥

अन्वयः--निराहारस्य देहिनः विषयाः रसवर्जं विनिवर्तंते: अस्य रसः अपि परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

अर्थः—आहार न करने वाले मनुष्यों के सारे विषय नष्ट हो-कर उसमें केवल प्रेम ही बाकी रहता है, और वो प्रेम भी आत्म साक्षात्कार होने पर नष्ट होजाता है ॥ ५ ६ ॥

टीका—(विषया इति) हे अर्जुन ! और तुम्हें एक आश्चर्य की बात कहता हूं सो सुनो । जो योगाभ्यासी इंद्रियों का दमन कर के व विषय का त्याग कर के अपनी कर्णादि इंद्रियों को तो अपने वश में रखते हैं, (रसवर्जं) परन्तु जिव्हा को वश में नहीं करते वे किसीन किसी प्रकार से फिर विषय से खींचे जाते हैं । वृक्ष के ऊपर ऊपर की टहनियों को तोड़ कर उसके जड़ में यदि पानी देते रहें तो किसप्रकार उसका नाश हो सकता है? वो तो उस पानी के बल से जैसे अधिकाधिक ही बढ़ने लगता है वैसे इस जिव्हा के द्वारा मन में रहने वाले विषय भी अधिक वलवान होते रहते हैं । दूसरे विषयों के विषय कम करने से वे कम होजाते हैं परन्तु जि-व्हा के विषय तो किसी प्रकार का हट करने से भी कम नहीं कर सकते । कारण कि वो जीवनाधार है और उसके विदून आयु भी नहीं व्यतीत होती ऐसा वे समझते हैं । (रसो प्यस्य परं दृष्ट्वा निव-र्तते) परन्तु वे ही जब अनुभवसे परब्रह्म स्थिति को पहुंच जाते हैं तब हे अर्जुन ! उनको आपहीआप अपने इंद्रियों का निग्रह कर-ना आजाता है । अपन स्वयं ही ब्रह्म है, इस प्रकारका अनुभव आते हीं शरीर की विस्मृति होकर इंद्रियां भी विषयों को भूल जा-ती हैं ॥ ५९ ॥

मूल—यततो ह्यपि कौंतेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इंद्रियाणि प्रमाथीनि हरंति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

पदच्छेदः—यततः । हि । अपि । कौन्तेय । पुरुषस्य । विपश्चितः । इन्द्रियाणि । प्रमाथीनि । हरन्ति । प्रसभं । मनः । ॥६० ॥

अन्वयः—(हे) कौंतेय! प्रमाथीनि इंद्रियाणि यततः विपाश्चितः अपि पुरुषस्य मनः प्रसभं हरन्ति हि ॥ ६० ॥

अर्थः—हे कौंतय ! ये वलवान इंद्रियां विद्वान और इंद्रियजीत मनुष्यों को भी वलात्कार से अपनी तरफ खींच लेती हैं ॥६०॥

टीका–(पुरुषस्य विपश्चितः) ऐसे तो हे अर्जुन! जो इन इंद्रियों को स्वाधीन करने के अर्थ निरंतर प्रयत्न करते हैं उनसे भी ये इंद्रियां नहीं रुकती है । (यततो ह्यपि कौंतेय) अभ्यास ही जिसका घर है, मनोनिग्रह ही जिसकी तटवंदी है, जिसनें मनको अपने वश में रक्खा है (इंद्रियाणि प्रमाथीनि) ऐसे मनुष्या भी गड़वड़ में पड़ जाते हैं (वे भी घबराते हैं) इस प्रकार ये इंद्रियां वलवान हैं । जैसे ड़ाकन मंत्रवेत्ता को मोहित करलेती है वैसे ही ये विषये हैं । ये विपय ऋद्धि सिद्धि के रूप में आते हैं (हरंति प्रसभं मनः) और इंद्रियों को मोहित करके मनुष्य को वद्ध करते हैं । तव मन मोह में गिर जाता है और ऐसा होने से फिर अभ्यास का भी भंग होता है । हे पार्थ! ऐसी ये इंद्रियां वलवान हैं ॥ ६० ॥

मूल—तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येंद्रियाणि तस्यप्रज्ञा प्रतिष्ठता ॥ ६१ ॥

पदच्छेदः–तानि । सर्वाणि । संयम्य । युक्तः । आसीत । मत्परः । वशे । हि । यस्य । इन्द्रियाणि । तस्य । प्रज्ञा । प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

अन्वयः–तानि सर्वाणि (इंद्रियाणि) संयम्य युक्तः (सन्) मत्परः आसीत् । यस्य हि वशे इंद्रियाणि (सन्ति) तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

अर्थः—इस कारण ज्ञानी मनुष्य को तो इंद्रियों को स्वाधीन रखकर अपने मन को मेरे में ही स्थिर करना चाहिये । जो अपने इंद्रियों के अपने वश में रखता है वो ही निश्चल बुद्धि है ऐसा समजो ॥ ६१ ॥

टीका-(तानि सर्वाणि संयम्य) इसलिये हे अर्जुन! जो सब प्रकार की आशा छोड़ कर विषयों को जड़ से ही उखाड़ देता है, जिसका अंतः करण विषय (वशे हिं यस्येंद्रियाणि) सुख में नहीं फँसता (युक्त आसीत मत्परः) जो निरंतर आत्म बोधे से युक्त रहता है और जो मुझको अपने हृदय से दूर नहीं करता (तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता) वो ही योगानिष्ठा का पात्र है ऐसा समझो । केवल बाह्य विषय का त्याग करने पर अंतःकरण में यदि जरासे भी विषय रहने देवे तो सच मुच वे मनुष्यों को संसार में डुबा देंगे; इस में कोई संदेह नहीं है । विष का एक बिंदु भी, यदि पान करलें तो जिसप्रकार वह सब शरीर में (फैल कर) व्याप्त होकर प्राणों को हरलेता है उसी प्रकार मन में यदि विषय की छाया भी रह जावेगी तो भी वो अकेली ही सब सुविचारों का नाश करदेगी ॥ ६१ ॥

मूल—ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूप जायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

पदच्छेदः—ध्यायतः । विषयान् । पुंसः । संगः । तेषु । उपजायते । संगात् । संजायते । कामः । कामात् । क्रोधः । अभिजायते । ॥ ६२ ॥ क्रोधात् । भवति । संमोहः । संमोहात् । स्मृतिविभ्रमः । स्मृतिभ्रंशात् । बुद्धिनाशः । बुद्धिनाशात् । प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

अन्वयः—विषयान् ध्यायतः पुंसः संगः तेषु उपजायते, संगात् कामः संजायते, कामात् क्रोधः अभिजायते, क्रोधात् संमोहः भवति संमोहात् स्मृति विभ्रमः भवति स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः भवति बुद्धिनाशात्: पुमान् प्रणश्यति ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

अर्थः—विषयों का चिंतन करने वाले मनुष्य को विषयों में आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्ति से इच्छा प्रबल होती है और फिर उस इच्छापूर्ति में विघ्न आने से क्रोध उत्पन्न होता है; क्रोध से अज्ञानता, अज्ञानता से स्मरण शक्ति नष्ट होती है, स्मरणशक्ति नष्ट होने से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि का नाश होने से मनुष्य का सर्वस्व नष्ट होजाता है ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

टीका—(ध्यायत इति) हृदय में यदि केवल विषय का स्मरण भी रह जाय तो वो निःसंग को भी संगति करादेता है (संगात्संजायते-काम :) संगति उत्पन्न होने से काम की इच्छा प्रगट होती है। जहां काम उत्पन्न हुवा कि (कामात्क्रोधोऽभिजायते) उसके साथ ही वहां क्रोध आजाताहैऐसा समझो। (क्रोधाद्भवति संमोहः) क्रोधकाआगमनहुवाकि उसमें अविचार अपना सिर ऊंचा उठाता है (संमोहात्स्मृति विभ्रमः) और जब आविचार प्रबल होता है तब " प्रचंड वायु से जिस प्रकार दीपक की ज्योति बुझ जाती है उसी प्रकार " स्मृति भी नष्ट होजाती है। किंवा सायंकाल को रात्रि जैसी सूर्य प्रकाश को प्रसित करती है तद्वत् अविचार भी प्राणियों की स्मृति को प्रसित करता है। (भ्रष्ट करदेता है)। (स्मृति भ्रंशाद्बुद्धि नाशो) फिर वो मनुष्य अज्ञानता के कारण सर्वथा अंधा होकर सर्व प्रकार से अपनी हानि करलेता है। तब उसको कुछ भी नहीं सूझता। जन्मांध को

यदि दोड़नेका प्रसंग आजावें तो वों जैसा किधरका किधर दोड़ता फिरता है वैसे ही हे अर्जुन! बुद्धि भी भ्रमण करती रहती है। हे पार्थ! इस प्रकार स्मृतिभ्रंश होजाने पर बुद्धि भी भ्रांत होती है और फिर बाकी रहा हुवा ज्ञान भी नामशेष होजाता है। (बुद्धिनाशात्प्रणश्यति) चैतन्यांश चले जाने से शरीर जैसा प्रेत रूप होजाता है उसी प्रकार बुद्धि नष्ट होने से जीव भी मृत के समान होजाता है। हे अर्जुन! लकड़ी को आग लग कर यदि वो भड़क जाँय तो वो जैसी त्रिभुवन को भी जला देती है, उसी प्रकार अंतःकरण में रहा हुवा विषय का स्मरण भी इतना अनर्थ कर देता है ॥ ६३ ॥

मूल - रागद्वेष वियुक्तैस्तु विषयानिंद्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

पदच्छेदः—रागद्वेष वियुक्तैः। तु। विषयान्। इन्द्रियैः। चरन्। आत्मवश्यैः। विधेयात्मा। प्रसाद। अधिगच्छति ॥६४॥

अन्वयः—विधेयात्मा तु रागद्वेषवियुक्तैः आत्मवश्यैः इंद्रियैः विषयान् चरन् प्रसादम् अधिगच्छति ॥ ६४ ॥

अर्थः—जिसने प्रीति व द्वेष का त्याग करके इंद्रियोंको अपने वश में रक्खा है ऐसा मनुष्य यदि विषयों का सेवन भी करलें तोभी उसके चित्तकी प्रसन्नता में बाधा नहीं पडती है ॥६४॥

टीका- (विधेयात्मा) इस कारण मनसे सारे विषयों का (रागद्वेषत्यर्थं) त्याग करनेसे तो रागद्वेष आपही आप नष्ट होजाते हैं। हे अर्जुन! रागद्वेष नष्ट होजानेपर फिर यदि इंद्रियां विषयों में रत होगई (तथापि) तो वे बाधा नहीं करतीं। जिसप्रकार सुर्य आकाशमें रहतेहुए अपने किरणरुपी हाथोंसे भुमंडलपर रहने वाले

चाहे जिस पदार्थ को स्पर्श करता है परन्तु वह उन पदार्थों के संगति से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार जो इंद्रियों के ग्राह्य विषयों में उदास, (आत्मवश्यैः) आत्मरस से परिपूर्ण, और काम क्रोध से रहित रहता है और विषयों में भी अपने सिवाय दूसरी वस्तु ही नहीं देखता, उस के लिये विषय क्या वस्तु है ? और वे बद्ध करेंगे भी किसी को ? पानी यदि पानी में डूबेगा, अग्नि यदि अग्नि से जलेगा, तो आत्मरस से परिपूर्ण हुआ हुवा मनुष्य भी विषयों के संगति से डूबेगा। इस प्रकार आप स्वयं ही जो त्रैलोक्यरूप बन जाता है उसी की ही बुद्धि स्थिर हुई है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ६४ ॥

मूल—प्रसादे सर्व दुःखानां हानि रस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

पदच्छेदः—प्रसादे । सर्व दुःखानां । हानिः । अस्य । उपजायते । प्रसन्नचेतसः । हि । आशु । बुद्धिः । पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

अन्वयः—प्रसादे अस्य सर्व दुखानां हानिः उपजायते, प्रसन्नचेतसः हि बुद्धिः आशु पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

अर्थः— चित्तको प्रसन्न रखनेसे सारे दुःखोंका नाश होता है और जिसका चित्त प्रसन्न रहता है उसकी ही बुद्धी आत्मा में स्थिर हो सकती है॥६५॥

टीका—(प्रसादेति) जहां चित्त निरंतर प्रसन्न रहता है वहां किसी भी संसारिक दुःख का प्रवेश नहीं होता। जिस के पेटसे ही अमृत धारा निकलती है उसको जिसप्रकार तृषा और क्षुधा का भय नहीं रहता (प्रसन्न चेतसे इति) उसीप्रकार जहां हृदय की प्रसन्नता

वास करती है वहां दुःख किसप्रकार आसकताहै? और आवेगा तो वह आवेग भी कहांसे? कारण की उसकी बुधि तो स्वयमेव ही परमात्मस्वरुप में लगीं रहती है. वायु रहित प्रदेश में रखे हुए दीपक की ज्योति जैसी नहीं हिलती उसी प्रकार योगी भी अपनी बुद्धि को स्थिर करके आत्मस्वरूप में निमग्न रहता है ।। ६५ ।।

मूल—नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चाऽयुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

पदच्छेदः—न । अस्ति । बुद्धिः । अयुक्तस्य । न । च । अयुक्तस्य । भावना । न । च । अभावयतः । शांतिः । अशांतस्य । कुतः। सुखं ॥ ६६ ॥

अन्वयः—अयुक्तस्य बुद्धिः नास्ति च अयुक्तस्य भावना न (अस्ति) च अभावयतः शांतिः न (अस्ति) अशांतस्य सुखं कुतः ॥ ६६ ॥

अर्थः—जिसका अन्तःकरण स्थिर नहीं है उसको आत्मज्ञान की प्राप्ति करा देने वाली बुद्धि नहीं प्राप्त होती. जिसको ध्यान नहीं धरने आता उसको शांति नहीं मिलती और जिसमें शांति का निवास नहीं उसको सुख कहां से मिलेगा ॥ ६६ ॥

टीका—(अयुक्तस्य) जिसके अन्तःकरण में इस योगयुक्ति का विचार नहीं रहता उसको शब्दादि विषय और गुण बद्ध करलेते हैं. (नास्ति बुद्धिः) हे पार्थ ! फिर उसकी बुद्धि कभी भी स्थिर नहीं होती. (न चायुक्तस्यभावना) और उसको स्थिर करने की आस्था (श्रद्धा) भी उत्पन्न नहीं होती. (नचाभावयतः शांतिः) हे अर्जुन ! स्थिर करने की कल्पना ही यदि उसके मन में नहीं आती है तो फिर उसको शांति भी किस प्रकार प्राप्त हो सकती है? (अशांतस्य

कुतःसुखम्) जिस प्रकार मोक्ष पापी मनुष्यों को नहीं मिलता उसी प्रकार जहां शांति का उद्भव नहीं है वहां सुख भी कभी नहीं रहता. भूंजे हुए बीज यदि उगेंगे तो द्वैतभाव रखनेवालों को भी सुख की प्राप्ति होगी. इस बात से यह ध्यान में रक्खो कि मनका अविचारी पना ही सर्व दुःखों का मूल है और इसी कारण इन्द्रियों का दमन करना ही उत्तम पक्ष है ॥ ६६ ॥

मूल-इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवांभसि ॥ ६७ ॥

पदच्छेदः—इंद्रियाणां । हि । चरतां । यत् । मनः । अनुविधीयेते । तत् । अस्य । हरति । प्रज्ञां । वायुः । नावं । इव । अम्भासि ॥ ६७ ॥

अन्वयः—चरतां इन्द्रियाणां हि यन्मनः अनुविधीयते, तत् अंभसि वायुः नावं इव अस्य प्रज्ञां हरति ॥ ६७ ॥

अर्थः—जिसका मन इन्द्रियों की संगति से उनके पीछे पीछे जाता है वह, समुद्र में प्रतिकूल वायु से डूबने वाली नौका के समान बुद्धि को हरण करलेता है ॥ ६७ ॥

टीका—(इन्द्रियाणामिति) जो इंद्रियों के वशीभूत होजाते हैं वे यदि विषय सिंधु को तर गये तो भी न तरने जैसे ही हैं । (तदस्येति) जिस प्रकार नौका नदी के किनारे पर आते हीं यदि तोफान आकर गिरे तो टला हुआ संकट भी लौट आता है, उसी प्रकार आत्मानुभव प्राप्त हुआ हुवा मनुष्य कौतुक से भी यदि इंद्रियों का पोषण करें तोभी वह संसार संबंधी दुःखों से घेरा जाता है ऐसा समझो ॥ ६७ ॥

मूल-तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

पदच्छेदः—तस्मात् । यस्य । महावाहो । निगृहीतानि । सर्वशः । इन्द्रियाणि । इन्द्रियार्थेभ्यः । तस्य । प्रज्ञा । प्रतिष्ठिता ॥६८॥

अन्वयः—तस्मात् हे महावाहो ! यस्य इंद्रियाणि इंद्रियार्थेभ्यः सर्वशः निगृहीतानि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

अर्थः—इस कारण हे महाबाहो! इंद्रियों के जो भोग्य पदार्थ विषय, उनमें इंद्रियों को जो रोक रखता है उसकी ही बुद्धि स्थिर है ॥ ६८ ॥

टीका—(तस्मादिति) इसालिये हे अर्जुन! इंद्रियां यदि स्वयमेव ही अपने स्वाधीन होजावेंगी तो फिर कर्तव्य क्या रहा? जिस प्रकार कछवा आनंद से अपने हाथ पांवों को पसारता है अथवा अपने ही इच्छा से जिस प्रकार वो उनको भीतर भी खींच लेता है, (इन्द्रियाणीति) उसी प्रकार जिसकी इंद्रियां बश में है, और उसका कहा करती हैं उसकी ही बुद्धि स्थिर हुई है ऐसा समझना चाहिये ॥ ६८ ॥

मूल—या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९ ॥

पदच्छेदः—या । निशा । सर्वभूतानां । तस्यां । जागर्ति । संयमी । यस्यां । जाग्रति । भूतानि । सा । निशा । पश्यतः । मुनेः ।

अन्वयः—या सर्व भूतानां निशा तस्यां संयमी जागृति । यस्यां भूतानि जागृति सा पश्यतः मुनेः निशा ॥ ६९ ॥

अर्थः-स्वस्वरूपाज्ञानरूपी रात्रि में योगी पुरुष जागता रहता है और जिस स्वस्वरूपाज्ञानरूपी रात्रि में सारे भूत सत्यभाव से जागते हैं वहां योगी पुरुष के लिये रात्रि हुई हुई रहती है ॥६९॥

टीका--(या निशेति) जिस आत्म स्वरूप को प्राणिमात्र नहीं जानते हैं उस स्वरूप को जो जानता है (जब प्राणिमात्र सोये रहते हैं तब जिसके लिये प्रातः काल होता है)और जिस (यस्यामिति) विषय सुख को प्राणिमात्र जानते हैं उस विषय सुख को जो नहीं जानता है, (और जब प्राणि मात्र जागते हैं तब जिसके लिये रात्रि होती हैं) हे अर्जुन! वही मनुष्य उपाधि रहित है, स्थिर बुद्धि है और वही परिपूर्ण मुनि श्रेष्ठ है, ऐसा समझो ॥ ६९ ॥

मूल-आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशंति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशंति सर्वे
स शांतिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

पदच्छेदः-आपूर्यमाणं । अचलप्रतिष्ठं । समुद्रं । आपः । प्रविशन्ति । यद्वत् । तद्वत् । कामाः । यं । प्रविशन्ति । सर्वे । सः शान्तिं । आप्नोति । न । कामकामी ॥ ७० ॥

अन्वयः-यद्वत् आपः आपूर्यमाणंअचलप्रतिष्ठं समुद्रं प्रविशंति तद्वत् सर्वे कामाः यं प्रविशंति सः शांति आप्नोति, कामकामी न ॥ ७० ॥

अर्थः-सदैव पानी से भरे हुए और कभी भी मर्यादा को न उलांघने वाले समुद्र में जिसप्रकार सारी नदियां आकार मिलती हैं उसी प्रकार सारे काम जिसमें प्रवेश करते हैं तो भी जो निष्काम रहता है उसीको ही शांति प्राप्त होती है । परन्तु काम की इच्छा करने वाले को शांति नहीं मिलती ॥ ७० ॥

टीका:-(आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं) हे अर्जुन ! उसको पहिचानने का और भी एक चिन्ह है सुनो । (समुद्रमापः प्रविशंति यद्वत्) समुद्र जिसप्रकार निरंतर शांत रहता है, बहुत गहरी नदियों के प्रवाह भी यद्यपि उसमें आकार मिलते हैं तो भी वो मर्यादा का उलंघन नहीं करता है, अथवा हे अर्जुन! गरमी के दिनो में यद्यपि सारी नदियां सूख जाती हैं तो भी जिसप्रकार समुद्र में कुछ भी कमी नहीं होती, (तद्वत्कामायं प्रविशति सर्वेस शांतिमाप्नोति) उसी प्रकार ऋद्धि सिद्धि प्राप्त हुई तो भी जिस को हर्ष नहीं होता है अथवा वो प्राप्त न हुई तो जिसको किसीप्रकारका दुःख भी नहीं होता है ! क्या सूर्य के घर में प्रकाश के अर्थ दीपक जलाना पड़ता है? अथवा दीपक नहीं लगाया जाया तो क्या वहां अंधेरा ही रहेगा? कहो तो । उसीप्रकार ऋद्धिसिद्धियों की प्राप्ति हुई तो क्या और न हुई तो क्या? जिस को उनका स्मरण भी नहीं होता वही अतःकरण के महासुख में निमग्न रहता है । जो अपने सौंदर्य के सामने इंद्रभुवन को भी तुच्छ समझता है वो जिसप्रकार भीलोंके झोपड़े में प्रसन्न नहीं रहता या जो अमृत की निंदा करता है वो जिसप्रकार कांजी को नहीं पीता उसीप्रकार आत्मसुखानुभव लेने वाला पुरुप भी ऋद्धि सिद्धियों का उपभोग नहीं लेता । हे पार्थ! यह बड़ी आश्चर्य की बात है कि जहां स्वर्गसुख की भी कीमत नहीं है (नकामकामी) वहां ऋद्धि सिद्धियें द्वारा लुभाने का प्रयन्न करना सर्वथा वृथा है ॥ ७० ॥

मूल-विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः सशांतिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

पदच्छेदः—विहाय । कामान् । यः । सर्वान् । पुमान् । चरति । निस्पृहः । निर्ममः । निरहंकारः । सः । शान्ति । अधिगच्छति ॥ ७१ ॥

अन्वयः—यः पुमान् सर्वान् कामान् विहाय निस्पृहः, निर्ममः निरहंकार । (सन्) चराति सः शांतिं अधिगच्छति ॥७१॥

अर्थः—जो पुरुष सर्व कामवासनाओंका त्याग करके निस्पृह होकर मैं और मेरा इस भावना को छोड़ देता है, उसी कोही शांत्ति सुख मिलाता है ॥ ७१ ॥

टीका–(स शांति मधिमच्छति) इसप्रकार जो आत्म बोध से संतुष्ट हुआ है और परमानंद से भरा हुआ है वो ही उत्तम स्थिर बुद्धि है ऐसा तुम पहिचानो । (निर्ममो विरहंकारः) वह अभिमान को छोड़कर, (विहायेति) सब इच्छाओंका त्याग करके और विश्वरूप होकर ही विश्व में संचार करता है ॥ ७१ ॥

मूल–एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वाऽस्यामंतकालेऽपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

पदच्छेदः—एषा । ब्राह्मी । स्थितिः । पार्थ । न । एनां । प्राप्य विमुह्यति । स्थित्वा । अस्यां । अन्तकाले । अपि । ब्रह्मनिर्वाणं । ऋच्छति ॥ ७२ ॥

अन्वयः हे पार्थ ! एषाब्राम्ही स्थितिः एनां प्राप्य न विमुहयति अंतकाले अपि अस्यां स्थित्वा निर्वाणं ब्रह्म ऋच्छति ॥ ७२ ॥

अर्थ;–हे अर्जुन ! इस स्थिति को ब्रह्मस्थिति ऐसा कहते हैं. और जिसको प्राप्त करलेने सें मनुष्य मोह में नहीं फँसता ! इस

स्थिति में रहते हुये यदि मृत्यु आजावे तो भी उसको शांत ब्रह्मपद की प्राप्ति होती है ॥ ७२ ॥

टीका—(एषेति) जो पुरुष निरिच्छ रहते हैं (ब्रह्म निर्वाणमृच्छति) वेही इस निस्सीम ब्रह्मस्थिति का अनुभव लेकर अनायास से परब्रह्म तक पहुंचते हैं (स्थित्वाऽस्यामंतकालेऽपि) इस प्रकार जो ज्ञानी हैं उनके चित्त को इस ब्रह्मस्थिति के बल से (ज्ञान स्वरूप में लय होने के समय) देहांत के समय होने वाली व्यथा नहीं सताती. संजय कहता है कि इसी ब्रह्म स्थिति का वर्णन श्रीकृष्णजीने अर्जुन को कहा (उत्तराध्याय बीजं) तब श्रीकृष्णजी के इस बचन को सुनकर अर्जुन अपने मन में कहने लगा कि अब ठीक हुआ । यह युक्ति तो उत्तम प्रकार से हमारे उपयोग में आवेगी. कारण कि प्रभु ने तो सारे कर्म का निषेध किया है. तो अब मुझे युद्ध करने का भी कोई प्रयोजन ऐसे नहीं रहा. श्री कृष्णजी के वचनों को सुनकर धनुर्धारी अर्जुन को बहुत ही आनन्द हुआ. आगे इसी विषय में अर्जुन शंका करेगा. वो सुन्दर प्रसंग सारे धर्मोंका उत्पति स्थान है अथवा विचारामृत का अपरंपार समुद्र ही है । जो स्वयं सर्वों के अधिपति हैं वे श्रीकृष्णजी उसका उत्तर देंगे और उसी प्रसंग को निवृत्तिदास ज्ञानदेव कथन करेंगे ॥ ७२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता सूउपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग शास्त्रे श्रीकृष्नार्जुन संवादे तथा श्रीज्ञानदेव कृत भावार्थ दीपिकायां सांख्य योगो नाम द्वितीयोऽध्याय: ॥

॥ शुद्धिपत्र ॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	३	सवितु	सवित
१	११	विपीदन्त	विपीदन्तं
१	१६	घृतराष्ट्	धृतराष्ट्र
३	२३	शीघ्रही	शीघ्रही
६	श्लोक	भोत्कुं	भोक्तुं
८	४	जीतलेंगे थी	जीतलेंगे या
१०	१	कामण्य	कार्पण्य
१४	६	उचाय	उवाच
१६	२३	भ्रांतियम	भ्रांतिमय
२३	६	तस्माद्य	तस्माद्यु
२३	१६	नाशा	नाश
२६	८	शारीराणि	शरीराणि
२६	श्लोक	परिहार्या	परिहार्ये
३१	१५	प्राप्ता	प्राप्त
३२	६	अन्ये:	अन्य:
३२	१०	ऐनं	एनं
३३	२१	देहि	देही
३५	२	कारकहो	कारकही
३६	१४	यादष्यन्ति	वदिष्यन्ति
४१	२	कौन्तय	कौन्तेय
४१	५	युध्याय	युद्धाय
४१	५	उत्तिष्ट	उत्तिष्ठ
४१	६	आवाप्स्यासि	अवाप्स्यसि
४२	३	ऐषा	एषा
४२	११	ऐषेति	एषेति
४४	२१	अव्यवसायिनो	अव्यवसायिनाम्
४५	[illegible]	युक	युक्त

४६	१	प्रवदन्ति	प्रवदन्ति
४६	१३	अर्जन	अर्जुन
४६	श्लोक	क्लिया	क्रिया
४६	२३	भोगेयंगतिं	भोगैश्वर्यगतिं
४८	श्लोक	त्रैयगुण्य	त्रैगुण्य
,,	,,	निर्द्वंद्वो	निर्द्वंद्वो
४९	२	वेष्ठित	वेष्टित
४९	१४	ब्राह्मणस्य	ब्राह्मणस्य
४९	१७	ब्रह्मज्ञानी	ब्रह्मज्ञानी
५७	५	सिद्ध सिद्धयोः	सिद्ध सिद्धयोः
५४	२२	बुन्द्धि	बुद्धि
५८	श्लोक	द्वेष्ठि	द्वेष्टि
५८	२०	स्थित	स्थिति
५९	२०	रसाऽप्यस्य	रसोऽप्यस्य
६०	१४	विषय	विषयको
६०	श्लोक	इंद्रिपाणि	इंद्रियाणि
६१	११	मनुष्या	मनुष्य
६१	श्लोक	प्रज्ञा	प्रज्ञा
६२	श्लोक	भूंशाब्दु	भूंशाद्दु
६४	२३	भुसंडलपर	भूमंडलपर
६६	२	आवेग	आवेगा
६६	२	बुधि	बुद्धि
६६	१९	पार्ध	पार्थ
६७	१०	येते	एते
६७	११	आकार	आकर
७०	२१	जाया	जाय
७१	१०	संतुष्ठ	संतुष्ट
७२	१२	सूउप	सूप
७२	१९	श्रीकृष्ना	श्रीकृष्णा

पुस्तक मिलने का पताः—

पंडित रामदत्त त्रिपाठि, हेड पंडित

मिशन हाइस्कूल, अजमेर.